यजुर्वेदका स्वाध्याय।

अध्याय ३२

"सर्व-मेध-यज्ञ"

अथवा

"सर्व-पूज्यकी पूजा"

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

प्रकाशक

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा, पूना मार्ग)

प्रथमवार १०००

विक्रम संवत १९७५
शालीवाहनशक १८४०
ईसवी सन १९१९

मूल्य ।≡ सात आना

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर लिखित स्वाध्यायके ग्रंथः—
आर्य भाषा (हिंदी) में।

(१) यजुर्वेद अ. ४०। **'ईशोपनिषद'** का स्वाध्याय। आत्मज्ञानाध्याय। (प्रकाशक—म. राजपाल, सरस्वती आश्रम, लाहोर) मूल्य. दस आना। ·॥=

स्वाध्याय-मंडल द्वारा प्रकाशित।

(२) यजुर्वेद अ. ३६। शांतिकरण अध्याय। **'सच्ची शांतिका सच्चा उपाय।'** मूल्य आठ आना ·॥·

(३) यजुर्वेद अ. ३२। सर्व-मेध-यज्ञ। **'सर्व-पूज्यकी पूजा।'** मूल्य सात आना ·।≡

[निम्न पुस्तक छप रहे हैं]

(४) यजुर्वेद अ. ३०।३१। नर-मेध। **'मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन।'**

(५) यजु. अ. ४०। **'ईशोपनिषद्'**। केवल मूल और टिप्पणीयोके साथ केवल अर्थ।

(६) **Isopaniṣad,** Original text, with transliteration, translation and explanatory notes.

[मंत्री-साहित्य परिषद् गुरुकुल कांगडी द्वारा मुद्रित]

(७) **वेदमें रोग-जंतु-शास्त्र**। मू० डेड आना। ≈॥

(८) **वेदमें वैद्य-शास्त्र**। मू० दो आना। ≈

(९) **वैदिक-राज्य-पद्धति**। मू० डेड आना। ≈॥

(१०) **वैदिक-सभ्यता**। मू० दो आना। ≈

(११) **धनका स्थान**। मू० एक आना। ≈

(१२) **सायण-भाष्यकी समालोचना**। मूल्य एक आना। ≈

(१३) **महादेवकी कल्पना**। मू० एक आना। ≈

(१४) **वेदार्थ करनेकी पद्धति**। मू० एक आना। ≈

(१५) **मानवी आयुष्यकी वैदिक मर्यादा**। मू० तीन आना। ≡

[आर्य प्रतिनिधि सभा, लाहोर द्वारा मुद्रित]

(१५) **अग्नि-सूक्त**। मू० चार आना ·।·

यजुर्वेदका स्वाध्याय।

अध्याय ३२

सर्व-मेध-यज्ञ

अथवा

"सर्व-पूज्यकी पूजा"

लेखक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

प्रकाशक

स्वाध्याय-मंडल, औंध

(जि. सातारा, पूना मार्ग)

प्रथमवार १००० | विक्रम संवत १९७५ शालीवाहनशक १८४० ईसवी सन १९१९ | मूल्य ।≡ सात आना

यजुर्वेदका स्वाध्याय, अध्याय ३२ के विषयमें थोडासा विवेचन ।

(१) अध्यायका नाम

"सर्व-मेध"

इस यजुर्वेद (वाजसनेय संहिता) के अध्याय ३२ का नाम "सर्व-मेध" है। 'सर्व-मेध-यज्ञ' इसको साधारणतः कहते हैं । 'सर्व-मेध' शब्दके भावार्थका अब विचार करना चाहिए। "मिथ्, मेथ्, मेध्" इन-मेंसे किसी धातुसे 'मेध' शब्द बनाया जाता है । इनके अर्थ प्रायः एक जैसे हि हैं:—

मेथ्—To meet, to meet one another, to unite, to know, to understand, to love, to associate with, to grasp. मिलना, परस्पर मिलना, जोडना, जानना, समझना, प्रेम करना, मिलाफ करना, पकडना।

येही अर्थ 'मिथ्, मिद्, मिध्, मेथ्, मेद्, मेध्' धातुओंके हैं ॥ (१) मिथ्-मेधायाम् । (२) मिद्-स्नेहने । (३) मिद्-मेधायाम् । (४) मिध्-मेधायाम् । (५) मेथ्-मेधायाम् । (६) मेद्-मेधायाम् । (७) मेध्-मेधायां संगमे च ॥ ये इनके पाणिनीकृत धातुपाठके अर्थ हैं।

'मेध्' धातुसे 'मेधा' शब्द बनता है, जिसके अर्थ-बुद्धि, धारणाशक्ति, बल, शक्ति, बुद्धिका बल, यज्ञ' इतने हैं। इसीसे 'मेध्य' शब्द बनता है, जिसके अर्थ-'यज्ञके लिये योग्य, पवित्र, शुद्ध, धर्म्य, नवीन (ताजा)

बलवर्धक, उत्साहवर्धक, बुद्धिवर्धक, ज्ञानी, बुद्धिमान्' इतने हैं। इसी धातुसे 'मेध' शब्द बनता है, जिसके अर्थ-'यज्ञ, अर्पण, सत्व, रस, सार, पवित्र, पूज्य' इत्यादि हैं। इन अर्थोंका विचार करनेसे "सर्व-मेध" के अर्थ का पता लग सकता है।

(२) सर्व-पूज्यकी पूजा।

"सर्व जगतमें जो पूज्य, सबसे जो पवित्र, सबमें जो सत्वरूप, सबसे जो पूजने योग्य, वह 'सर्व-मेध' है। सब जगतमें साररूप, एकरस, पवित्र और पूज्य परमात्मा होनेसे, वही सर्व-मेध नामक यज्ञसे पूजने योग्य है।

वही परमात्मा सबको मिलने, अर्थात् प्राप्त करने योग्य है, उसीके साथ मित्रवत् मिलना उचित है, उसीके साथ अपना संबंध जोडना अच्छा है, वही जानने योग्य है, अर्थात् उसका ख्याल कभी भूलना नहीं चाहिए, उसीके स्वरूपको समझ कर नित्य स्मरण रखना चाहिए, उसीकी भक्ति करनी चाहिए, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक रहना चाहिए, उसीकेसाथ मिलाफ करना चाहिए, उसीको अपनी बुद्धिमें स्थिर रखना चाहिए। यही 'मेध' है। सबको इस प्रकारका मेध करना उचित है, इस लिये इसको 'सर्व-मेध' कहते हैं।

अर्थात् परमेश्वर-भक्ति अथवा परमेश्वर-उपासना हि 'सर्व-मेध' का तात्पर्य है, और इसीका वर्णन इस यजुर्वेदके अध्याय ३२ में है।

(३) हिंसाका भाव।

'मिथ्, मेध्' धातुका 'हिंसा' ऐसा और एक अर्थ है। जिसको लेकर 'हिंसामय यज्ञवादी' लोकोंनें 'मेध' शब्दका अर्थ हिंसा पर किया है, और वे कहते हैं कि, 'नृमेध, नरमेध, अश्वमेध, अजमेध' आदि यज्ञोंमें उक्त प्राणियोंकी अवश्य हिंसा होती है। इन हिंसावादियोंको निम्न श्लोक अवश्य देखना चाहिए:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

मनु. ३।७०

(१) शिष्योंको विद्या पढाना ब्रह्मयज्ञ है, (२) माता पिताओंकी संतुष्टता करना पितृयज्ञ है, (३) हवन करना देवयज्ञ है, (४) कीटपतंगादि क्षुद्रजंतुओंके लिये अन्न देना भूतयज्ञ है तथा (५) 'अतिथिका सत्कार करना नर-यज्ञ है।'

जो लोक समझते हैं, कि नरमेध और अश्वमेध से मनुष्य और अश्वके मांसका हवन करना तात्पर्य है, उनको उचित है, कि वे 'पितृ-मेध' और 'गृह-मेध' शब्दोंपर विशेष विचार करें। जिस प्रकार 'पितृमेध' से पिताके शरीरकी आहुति देनी अभीष्ट नहीं, उसीप्रकार 'नरमेध' से नर-मांसकी आहुति देनेका तात्पर्य नहीं है। इसी लिये नरयज्ञका तात्पर्य अतिथि-पूजन है, ऐसा स्पष्ट उक्त मनुवचनमें कहा है। इसीप्रकार पितृमेधका तात्पर्य 'पितृपूजा' है, और 'गृहमेध' का तात्पर्य 'गृहको पवित्र करना' है।

यहां नरमेधके विषयमें शास्त्रार्थ करना नहीं है। केवल इतनाही बताना है, कि 'मेध' शब्दसे 'पवित्र बनाना, शुद्ध करना, सत्कार करना, पूजा करना' आदि भाव विवक्षित है, न कि उसका मांस हवनसे तात्पर्य है। नरमेधके विषयक विवेचन पुरुषमेध अ० ३१ के प्रसंगमें करूंगा। यहां सर्व-मेधकाहि विचार करना है। इसके अर्थका निश्चय पहिले किया गया है। अब इतनाही देखना है, कि 'मेध्' धातुके हिंसा अर्थका यहां क्या तात्पर्य है।

गुणोंके द्वंद्व होते हैं। एकका स्वीकार करनेसे दूसरेका नाश स्वयं होता है। उष्णताका स्वीकार करनेसे स्वयं सर्दीका नाश होता है। किसी स्थानपर पवित्रता करनेसे वहांके अपवित्रताका नाश होगा। नियमपूर्वक आरोग्य रखनेसे रोगोंका नाश होता है। परमात्माकी उपासना करनेसे सब दुष्ट भावोंका नाश होता है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है, कि, सर्वत्र सत्यका सत्कार करनेसे असत्यकी हिंसा होती है। यही यज्ञका हेतु है। सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंकी हिंसा करना है। इस रक्षा और हिंसाका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगाः—

(रक्षा और पूजा)	(हिंसा और तिरस्कार)
सत्	असत्
सत्य	असत्य
सज्जन	दुर्जन
पवित्रता	अपवित्रता
धर्म	अधर्म
ईश्वरभक्ति	नास्तिकता
उन्नति	अवनति
ज्ञान	अज्ञान
पुरुषार्थ	आलस
सदाचार	दुराचार
सुर	असुर
उपास्य	हेय
रक्षणीय	हिंसनीय

इस प्रकार सैंकडों द्वंद्व हैं। उनमेंसे सत्पक्षीय भावोंका स्वीकार और असत्पक्षीय भावोंका तिरस्कार करना है। 'मेध' शब्दमें 'मेधा-संगम-हिंसा' ये तीनों भाव इसीप्रकार देखने हैं। सदाचारका बुद्धिपूर्वक संगम अर्थात् मिलाफ करना और दुराचारका बुद्धिपूर्वक त्याग अथवा हिंसन करना। जो सदाचारी होंगे उनके साथ मिलना और जो दुराचारी होगें उनका हिंसन, पराजय अथवा त्याग करना। इस प्रकार यज्ञ अथवा मेधमें सत्पक्षका सत्कार और असत्पक्षकी हिंसा होती है। व्यक्ति और समाजकी शुद्धिकी यही पद्धति है।

इस प्रकार विचार करनेसे, हिंसावादि अर्थात् समांस-यज्ञवादियोंका भ्रम स्वयं नष्ट होगा। इस 'सर्व-मेध' के अध्याय ३२ में समांस-यज्ञका नाम तक नहीं है, और न इस यज्ञका वह उद्देश है। 'सर्वमेध' का उदात्त और उच्च स्वरूप पाठकोंके मनमें तब प्रकाशित होगा, जब वे विचारपूर्वक इस अध्यायका अध्ययन करेंगे, तथा 'मेध' शब्दकी उच्च कल्पना भी उसी समय प्रकाशित होगी। 'मेध' शब्दमें 'बुद्धिकी वृद्धि'

की कल्पना विशेष है, जो कि 'मेधा' शब्दमें है । इस लिये 'मेध'का विचार करनेके समय इस कल्पनाको कभी भूलना नहीं चाहिए ।

(४) अध्यायका तात्पर्य ।

'सर्व-मेध-यज्ञ' का आशय समझनेके लिये इस अध्याय ३२ का तात्पर्य मनन करने योग्य है, इस लिये यहां थोडे शब्दोंमें उसका आशय देता हूं:—

"अग्नि, आदित्य, चंद्र, ब्रह्म आदि नामोंसे एक अद्वितीय आत्म-तत्वका ज्ञान होता है । सब हलचल उसी तेजस्वी परमात्मासे होती है, परंतु पूर्णतासे उसको कोई जान नहीं सकता । जिसका यश महान् है उसकी कोई प्रतिमा नहीं, उसके बीचमें सब जगत है, वही सबका जनक है, और उससे श्रेष्ठ कोई भी नहीं । वह सर्वत्र व्यापक, सबसे प्रसिद्ध और सब शक्तियोंसे युक्त है । जिसके पहिले कुछभी नहीं बनाथा, परंतु जो सब कुछ बनाता है, वह प्रजाओंका सच्चा स्वामी सब विश्वके साथ रहता हुआ, तीन तेज और सोलह गुणोंको धारण करता है । जिसनें तेजस्वी द्युलोक और दृढ पृथिवी बनाई है, हम सबको उसीकी पूजा करनी चाहिए । जिसने ये सब गोल अपने बलसे अपने अपने स्थानमें रखे हैं, और जिसमें उदयको प्राप्त होकर सूर्य तेजको फैलाता है, वही सबका उपास्य है । ज्ञानी मनुष्य उस परमात्माको सर्वव्यापक, सर्वाधार, सबका संयोग और वियोग करनेवाला मानता और देखता है । ज्ञानी वक्ता उस ब्रह्मका स्वरूप वर्णन कर सकता है, जो कि बुद्धिमें रहा है; इसके तीन भावोंको जो जानता है, वह पालकका पालक होता है । वही हम सबका भाई, पिता और बनानेवाला है; वह सर्वज्ञ है, जो अमर होते हैं, वे उसीमें रहते हैं । सब लोक लोकांतरों, सब दिशाउपदिशाओं और सब भूतोंका निरीक्षण करने और उस सत्य आत्माकी उपासना करनेसे, भक्त-जन आत्मस्वरूपसे परमात्मामें लीन होते हैं । सब लोक-लोकांतरोंका निरीक्षण करके सत्य सूत्रात्माको जाननेसे ज्ञानी वैसा बनता है, कि, जैसा पहिले था । वह परमात्मा जीवात्माका सच्चा मित्र है, वही सबका सच्चा स्वामी है, वह हम सबको उत्तम बुद्धिप्रदान करे । हे ईश ! ज्ञानी और

रक्षक जिस उत्तम बुद्धिकी प्राप्ति करते हैं, उस उत्तम बुद्धिसे हम सबको बुद्धिमान् करो। सब जगतके पदार्थोंकी सहायतासे मेरी बुद्धि अधिक तेजस्वी बने। ज्ञानी और शूर यशको प्राप्त हों, मुझे उत्तम यश प्राप्त हो। इस सब उन्नति के लिये स्वार्थ-त्याग और उत्तम भाषण कारण है।"

यह आशय इस यजु. अ. ३२ का है। यह भाव 'सर्व-मेध-यज्ञ' का सच्चा स्वरूप बताता है। 'मेध' संज्ञक यज्ञ स-मांस होना है, या निर्मांस होना है, इसका उत्तर उक्त आशयमें स्पष्ट है। इस लिये इस विषयमें किसीप्रकार अधिक शास्त्रार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं।

(५) सर्व-मेधकी उत्पत्ति और उसका स्वरूप।

शतपथ ब्राह्मणमें 'सर्व-मेध' की उत्पत्ति निम्न प्रकार कही है:—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तप-
स्यानन्त्यमस्ति। हन्ताऽहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि
भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानꣳ
हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानाꣳश्रैष्ठ्यꣳ
स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्। तथैवैतद् यजमानः
सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि
श्रैष्ठ्यꣳ स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति॥ १॥

शत. ब्रा. १३।४।३।१॥

"स्वयंभु ब्रह्म एक समय तप करने लगा। उसने देखा कि तपमें सच-मुच अनन्तत्व नहीं है। इसलिये मैं अपने आपका सब भूतोंमें हवन करूंगा, और सब भूतोंका अपने आत्मामें हवन करूंगा। पश्चात् उसने सब भूतोंमें आत्माका हवन और आत्मामें सब भूतोंका हवन करके श्रेष्ठता, स्वाराज्य-(स्वातंत्र्य) और प्रभुत्व ये तीन गुण प्राप्त किये। इस प्रकार जो यजमान अपने मेधादि स्वत्वका सब भूतोंमें और सब भूतोंका अपने आत्मामें हवन करके सर्व-मेध-यज्ञ करेगा, वह श्रेष्ठता, स्वाराज्य (अर्थात् बंधन-निवृत्ति, स्वतंत्रता आत्मिक-तेज) और प्रभुत्व इन तीन गुणोंको प्राप्त होगा।"

अपने सर्वस्वका परोपकारमें अर्पण करनेका आशय यहां है। सर्वमेध अर्थात् अपने सर्वस्वकी परोपकारकेलिये पूर्णाहुति देनी है। जो अपने आपको परोपकारकेलिये सब प्रकारसे अर्पण करता है, वही श्रेष्ठ, स्वतंत्र और स्वामी बनता है। इतिहासमें जिन पुरुषोंके नाम सन्मानित हुए हैं, उनके पवित्र चरित्रमें इसी प्रकार परोपकारके लिये आत्मार्पणका भाव दिखाई देगा। जो अपने आपको दूसरोंकेलिये पूर्णतासे अर्पण करता है, उसके लिये सब विश्व अर्पित अर्थात् प्राप्त होता है। यह सर्वमेधही सच्चा 'विश्व-जित्' यज्ञ है, देखीएः—

सर्वं वै विश्व-जित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः सर्वं
सर्व-मेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्याऽवरुद्ध्यै ॥ १२ ॥
शत. ब्रा. १३।४।३।१२॥

"यह सर्व विश्व-जित् (अर्थात् सब जगत्को जीतनेवाला यज्ञ) है। (सर्व-पृष्ठः) सब इसके पीठपर होते हैं। (अति-रात्रः) अज्ञान रात्रीका नाश होता है। सर्वमेधसे सब (श्रेष्ठता) की प्राप्ति होती है।"

इस सर्व-मेध यज्ञ से संपूर्ण विश्वमें विजय होता है। सर्वमेध यज्ञ करनेवालेके पीठ में रहकर, सब जगत् इसका संरक्षण करता है। इस यज्ञसे सब श्रेष्ठताकी प्राप्ति होती है। इस यज्ञसे अज्ञान का नाश होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ऊपर दिये हुए अ. ३२ के आशयके अनुसार जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, और तदनुसार जो अपना आचरण शुद्ध बनाता है, तथा सब जगतके भलाईके लिये जो अपने आपका अर्थात् अपने सर्वस्वका अर्पण करता है, वह सब दुनियापर अर्थात् सब जगतमें विजय पाता है, और सब जगत उसकी सहायता करता है। यह आशय उक्त शतपथ ब्राह्मणके वाक्यका है। विचार करनेपर इसकी सचाई प्रतीत होगी। सब सच्चे सत्पुरुषोंके आचरणोंमें यही दिव्य भाव दिखाई देता है, इस लिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। ऊपर दी हुई ब्रह्मके तप करनेकी आलंकारिक कथा इस यज्ञका परोपकारका भाव स्पष्ट कर रही है। यह भाव हरएक पाठकको विचारपूर्वक देखने योग्य है।

निरुक्तकार इसी सर्वमेधके विषयमें लिखते हैं:—

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमपि अनन्तो जुहवाञ्चकार ॥२॥ तदभिवादिन्येषर्ग्भवति। य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति ॥ ३ ॥

-निरु. दै. १०।२६

"भौवन विश्वकर्मानें सर्वमेध यज्ञमें प्रथम सब भूतोंका और पश्चात् अपने आपका हवन किया, जिसका वर्णन 'य इमा विश्वा' इस ऋचा-में है।"

'भौवन विश्व-कर्मा' का अर्थ 'भुवनों में व्यापक सर्व-कर्म-कर्ता परमात्मा' है। इसके साथ, पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मणकी, ब्रह्मके तप करनेकी, कथा देखनी चाहिए। तुलनासे पता लगेगा कि, ब्रह्म हि विश्व-कर्मा है। विश्वको बनानेवाला विश्वकर्मा अथवा विश्व-कर्ता स्वयंभु-ब्रह्म हि है। अब ऋचा का तात्पर्य देखना चाहिए:—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ॥ स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥

ऋ. १०।८१।१

(यः नः पिता) जो हमारा पिता-पालक-(होता) हवन-दान करनेवाला और (ऋषिः) ज्ञानी परमात्मा (इमानि विश्वानि भुवनानि) इन सब भुवनोंका (जुह्वत्) हवन अर्थात् अर्पण करता हुआ (निषीदत्) रहता है। (सः) वह परमात्मा (*आशिषा) सुफलतासे (द्रविणं इच्छमानः) सिद्धिकी इच्छा करता हुआ (प्रथम-च्छद्) पहिला अर्थात् श्रेष्ठ होता हुआ भी (अ-वरान्) कनिष्ठों में (आ-विवेश) प्रविष्ट हुआ है।

---

* आशिषा आशीः......प्रयोगदर्शन-हेतुः, सर्वमहं इदं स्यामिति।......द्रविणमिच्छमानः प्रयोगजनिताऽपूर्वफलं सर्वभावं इच्छन् ॥ निरु. भाष्य-दुर्गाचार्य ॥

अर्थात् ज्ञानी परमात्मानें सर्वमेध यज्ञ किया । जिसमें उसने अपने सर्वस्वरूप सब भुवनोंका अर्पण किया । यहां सब जीवोंकी उन्नतिके लिये परमेश्वरका सर्वस्व अर्पण हुआ है । इस अर्पणमें उसकी इच्छा इतनीहि थी, कि अपना प्रयोग सफल हो कर, प्रयोगजनित अपूर्व फल सिद्ध होवे । जीवोंकी उन्नतिके लिये जो स्वार्थत्याग किया गया है, उससे जीवात्मा अपनी उन्नति सिद्ध करके सु-फल युक्त बनकर आनंदित हों । इस पूर्ण त्यागकी इच्छासे प्रेरित होकर, परमात्मा स्वयं श्रेष्ठसे श्रेष्ठ होता हुआ भी, सब छोटे मोटे पदार्थों अर्थात् सब कनिष्ठोंमें प्रविष्ट हुआ । अंदर प्रविष्ट होनेके लिये छोटा होना पडता है । श्रेष्ठ परमात्मा छोटा (सूक्ष्म) बनकर सब पदार्थोंमें इस लिये घुसा है कि, उसके अनुसार सब मनुष्य, अपनी श्रेष्ठताकी घमंड छोड कर, दूसरोंकी उन्नति करनेके लिये छोटे बनकर, उनके साथ मिल कर, उनकी उन्नति करें । इस मंत्रसे निम्न बोध मिलता है:—

सर्व-मेधका वास्तव स्वरूप

परमेश्वरका सर्वमेध	मनुष्यका सर्वमेध
(१) परमात्मा सबका **पिता** (पालक) है ।	(१) मनुष्य सबका पितृवत् पालन करे। पुत्रोंके साथ जैसा प्रेम होता है वैसा प्रेम सबके साथ करे ।
(२) परमात्मा *ऋषि (ज्ञानी) है।	(२) मनुष्य ज्ञानी बने, अतींद्रिय ज्ञानको प्राप्त करे । ज्ञानी होकर ज्ञानका प्रचार करे ।
(३) परमेश्वर **होता** अर्थात् अर्पण कर्ता है ।	(३) मनुष्यको अपना अर्पण करना चाहिए। त्याग, दान, स्वार्थत्याग आदिभाव यहां विवक्षित हैं ।

* **ऋषिः**—ऋषीका अर्थ (१) उत्तम ज्ञानका साक्षात्कार करनेवाला, उत्तम ज्ञानका अनुभव स्वयं लेकर दूसरोंको उस ज्ञानका उपदेश करनेवाला, (२) प्रगतिके तत्वज्ञान (Progressive ideas) को स्वयं प्राप्त करके दूसरोको सिखानेवाला, (३) निश्चित प्रयोगसिद्ध तत्वज्ञानका प्रचार करनेवाला ॥ परमेश्वरमें ये गुण स्वयंसिद्ध और परिपूर्ण हैं, मनुष्यमे यथासंभव प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाले है ।

परमेश्वरका सर्वमेध	मनुष्यका सर्वमेध
(४) परमेश्वरका सर्वस्व विश्वव्यापक सब भुवन हैं, जो उन्होंने जीवों की उन्नतिके लिये अर्पण किये हैं।	(४) मनुष्यको अपना सर्वस्व सब जनता के भलाई और उन्नति के लिये अर्पण करना चाहिए।
(५) अर्पण करनेमें परमेश्वरकी इच्छा 'सबकी उन्नति' है। सब की उन्नतिरूप धनकी प्राप्ति।	(५) मनुष्यका त्याग सबकी उन्नति के लिये ही होना चाहिए।
(६) परमेश्वर श्रेष्ठ होता हुआ भी सबसे अलग नहीं रहा, परंतु सबके साथ मिलकर कार्य कर रहा है।	(६) मनुष्यको उचित है कि, वह अपनी श्रेष्ठताकी घमंडसें दूसरोंको नीच मान कर, अपने आपको अलग न रखे। परंतु दूसरोंके साथ मिलकर रहे और उनकी उन्नति के लिये प्रयत्न करे।
(७) परमेश्वर स्वयं श्रेष्ठ होता हुआ भी छोटेसे छोटा (सूक्ष्मसे सूक्ष्म) बनकर, सबमें व्यापक होकर सबको विशिष्ट गति दे रहा है।	(७) मनुष्यको उचित है कि, वह श्रेष्ठ बने और दूसरोंकी उन्नति केलिये उनमें जाकर उनके साथ रहे, और उनमें हलचल करके, उनको उन्नत करनेके लिये उनमें पुरुषार्थी चैतन्यकी प्रगति करता रहे।

इस प्रकार परमेश्वरके सर्वमेध यज्ञसे मनुष्यको उपदेश लेना चाहिए। **प्रथम स्वयं श्रेष्ठ बनना, और पश्चात् कनिष्ठोंमें जाकर, उनकी उन्नति करनेके लिये, उनमेंसे एक बनकर स्वार्थत्यागपूर्वक प्रयत्न करना।** सर्वमेध यज्ञका यह वास्तव स्वरूप है। इस दृष्टिसे इस मंत्रके प्रत्येक पदका विचार करना चाहिए। **'समाजकी उन्नति के साथ मनुष्यको अपनी उन्नति समझनी चाहिए'** इस स्वामी दयानंदजीके समाज नियममें उक्त मंत्रका पूर्ण प्रतिबिंब है। और यही नियम उनकी बुद्धिकी विशालता बता रहा है। अस्तु।

(६) ऋषिदेवताओंका विचार।

इस अध्याय ३२ में आये हुए मंत्रोंके ऋग्वेद और यजुर्वेदमें ऋषि देवता निम्न प्रकार हैं:—

मंत्रः	ऋग्वेदः (अजमेर)		यजुर्वेदः (अजमेर)	
	ऋषिः	देवता	ऋषिः	देवता
१ तदेवाग्निस्तदादित्यः	——	——	स्वयंभु ब्रह्म	परमात्मा
२ सर्वे निमेषा जज्ञिरे	——	——	,,	,,
३ न तस्य प्रतिमा...	——	——	,,	हिरण्यगर्भः परमात्मा
{ हिरण्यगर्भः सम...	प्रा.हि.ग.	कः	(हिरण्यगर्भः)	(प्रजापतिः)
मा मा हिंसीत्..	——	——	,,	(कः)
यस्मान्न जातः... }	——	——	(विवस्वान्)	(परमेश्वरः)
४ एषो ह देवः प्रदिशो	——	——	स्वयंभु ब्रह्म	आत्मा
५ यस्माज्जातं न पुरा	——	——	,,	परमेश्वरः
[प्रजापतिः प्रजया]	——	——	(विवस्वान्)	(परमेश्वरः)
६ येन द्यौ रुग्रा पृथिवी	प्रा० हिर०	कः	स्वयंभु ब्रह्म	परमात्मा
७ यं कंद्रसी अवसा	,,	,,	,,	,,
{ आपो ह यद्बृहती	,,	,,	(हिरण्यगर्भः)	(प्रजाप०)
यश्चिदापो महिना }	,,	,,	स्वयंभु ब्रह्म	,,
८ वेनस्तत्पश्यन्निहितं	——	——	,,	,,
९ प्र तद्वोचेदमृतं नु	——	——	,,	विद्वान्
१० स नो बंधुर्जनिता स	——	——	,,	परमात्मा
११ परीत्य भूतानि परी०	——	——	,,	,,
१२ परि द्यावापृथिवी	——	——	,,	,,
१३ सदसस्पतिमद्भुतं	मेधातिथिः काण्वः।	सदसस्पतिः	मेधाकामः	इन्द्रः
१४ यां मेधां देवगणाः	*	*	,,	हिरण्यगर्भः परमात्मा
१५ मेधां मे वरुणो द०	*	*	,,	परमेश्वर-विद्वांसौ
१६ इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं	——	——	श्रीकामः	विद्वद्राजानौ

(* ये दो मंत्र ऋग्वेद के खिल सूक्तोंमें है।)

इस कोष्टकसे पता लगेगा, कि इस अध्याय ३२ के आठ मंत्रोंका ऋग्वेदके साथ संबंध है। ऋग्वेद और यजुर्वेदमें ऋषिदेवताका कोई विशेष भेद नहीं। ऋग्वेदमें 'कः' और यजुर्वेदमें 'प्रजापति' देवता है। वह एकहि देवता है क्यों कि 'प्रजापतिर्वै कः। (शत. ब्रा. ७।४।१।१९)' में 'कः' का अर्थ 'प्रजापतिः' दिया है। हिरण्यगर्भ, प्राजापत्य हिरण्यगर्भ, स्वयंभु ब्रह्म, विवस्वान् ये सब एकहि अर्थ बतानेवाले शब्द हैं। अर्थात् दोनों वेदोंमें ऋषिदेवता विषयक कोई विशेषभेद नहीं।

उवट और महीधर के भाष्योंमें इस अध्यायका ब्रह्मा ऋषि और आत्मा अथवा परमात्मा देवता कही है। इस अध्यायका सर्वानुक्रमसूक्त निम्न प्रकार है:—

> तदेव सर्वमेधोऽध्याय आत्मदैवतः......
> सर्वमेधं ब्रह्म स्वयंभ्वैक्षत।
>
> यजु० सर्वानु. ३२।१५॥

'इस सर्वमेध अध्यायकी आत्मा देवता और स्वयंभुब्रह्म ऋषि है।'

अजमेरके छपे हुए यजुर्वेदमें १३–१५ मंत्रोंका ऋषि मेधाकाम और मंत्र १६ का श्रीकाम ऋषि दिया है। इस विषयमें थोडासा विचार करना चाहिए। इसका सर्वानुक्रम-सूत्रः—

> वेनस्तत्पञ्च त्रिष्टुभः। सदसस्पतिं तृचेन मेधाकामो मेधां याचते। प्रथमा गायत्री लिंगोक्ता देवता। द्वितीयाऽऽग्नेय्यनुष्टुप्। तृतीया लिंगोक्त–देवताऽनुष्टुब्। इदं मे–मांत्रवर्णिक्यनुष्टुबेतया देवेभ्यः श्रीकामो याचते श्रियम्॥
>
> यजु० सर्वानु. ३२।१६॥

'वेनस्तत्' ये पांच मंत्र त्रिष्टुप् छंदमें हैं। 'सदसस्पतिं' आदि तीन मंत्रोंसे (मेधा-कामः) बुद्धिकी इच्छा करनेवाला बुद्धि की याचना करता है। पहिले मंत्रका गायत्री छंद और 'इन्द्र' देवता है। दूसरेका अनुष्टुप् छंद और 'अग्नि' देवता है। तीसरे मंत्रका अनुष्टुप् छंद और

'वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु' देवता हैं। 'इदं मे' इस मंत्रका अनुष्टुप् छंद और मंत्रोक्तदेव देवता हैं। (श्री-कामः) धनकी इच्छा करनेवाला देवोंसे श्री अर्थात् धन आदिकी याचना करता है।

इस सर्वानुक्रम सूत्रको देखनेसे ऐसा भाव प्रतीत होता है कि, मेधाकी इच्छा करनेवाला और श्री की इच्छा करनेवाला मनुष्य इन मंत्रोंसे मेधा और श्रीकी याचना करे, न कि इन मंत्रोंके मेधाकाम और श्रीकाम ये ऋषि हैं। पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मणके वचनके अनुसार स्वयंभुब्रह्मके तपसे इस सर्वमेध-यज्ञकी तथा इस सर्वमेध अध्यायकी उत्पत्ति है। इस लिये संपूर्ण अध्याय स्वयंभु ब्रह्मका देखा हुआ है। अर्थात् संपूर्ण अध्यायका ऋषि स्वयंभु ब्रह्म है। सर्वानुक्रमणी और अजमेर यजुर्वेदकी तुलना निम्न कोष्टकसे हो सकती है:—

मंत्र	यजु० सर्वानुक्रम		(अजमेर) यजुर्वेद	
	ऋषि	देवता	ऋषि	देवता
१३ सदसस्पतिं	स्वयंभुब्रह्म	सदसस्पतिः	मेधाकामः	इन्द्रः
१४ यां मेधां देव	,,	अग्निः	,,	हिरण्यगर्भ परमात्मा
१५ मेधां मे वरु०	,,	वरुण-अग्नि-प्रजापति-इन्द्र-वायु	,,	परमेश्वर-विद्वांसौ
१६ इदं मे ब्रह्म	,,	देवाः	श्रीकामः	विद्वद्राजानौ

ऋषिके विषयमें शतपथ और सर्वानुक्रम की एक संमति होनेसे, सर्वानुक्रमका कहना सत्य प्रतीत होता है। देवताओंके विषयमें भी सर्वानुक्रमका कहना इसलिये सत्य प्रतीत होता है, कि मंत्रोंमें येही देवताओंके नाम आये हैं। 'मं. १६ इदं मे ब्रह्म' के 'विद्वद्राजानौ' ये देवताएं अजमेरके पुस्तकमें दीं हैं। मंत्रके 'ब्रह्म और क्षत्र' शब्दोंसे ये देवताएं मानीं गयीं हैं, ऐसा प्रतीत होता है। परंतु देवता उसको कहते हैं, कि जो देनेवाली होती है। 'देवो दानात्' ऐसा निरुक्तका कथन है। इस मंत्रमें 'ब्रह्मक्षत्र' ये दोनों श्री लेनेवाले हैं, और 'देवाः' श्री देनेवाले अर्थात् दाता हैं। याचक देव नहीं होते। इस कारण मंत्रोक्त 'देवाः' हि

इसकी देवता है। 'देव' शब्दसे विद्वान् और राजाका बोध हो कर, अन्य आत्मिक शक्तियोंकाभी बोध होना है।

निम्न कोष्टकमें मंत्रोक्त देवतावाचक पद, अजमेरके पुस्तकमें दिये हुए देवता और पं. ज्वाला प्रसादजीके दिये हुए देवता दिये हैं:—

मंत्र.	मंत्रोंमें देवता-सूचक शब्द	अजमेर यजुर्वेद के देवता	पं. ज्वालाप्रसाद० भाष्यानु० देवता
१ तदेवाग्निः	ब्रह्म	परमात्मा	पुरुषः
२ सर्वेनिमेषा	पुरुषः	,,	,,
३ न तस्य प्रतिमा	हिरण्यगर्भः	हिरण्यगर्भः परमात्मा	,, ,,
४ एषोह देवः	देवः	आत्मा	,,
५ यस्माज्जातं न	प्रजापतिः	परमेश्वरः	,,
६ येन द्यौरुग्रा	कः	परमात्मा	,,
७ यं क्रंदसी	कः	,,	,,
८ वेनस्तत्पश्यद्	तत् सत्	,,	,,
९ प्र तद्वोचेद	तत् अमृतं सत्	विद्वान्	,,
१० स नो बन्धुः	विधाता	परमात्मा	,,
११ परीत्य भूतानि	आत्मा ऋतस्य प्रथमजा	,,	अनन्यभक्तः(?)
१२ परि द्यावा पृथिवी	ऋतस्य तन्तुः	,,	मोक्षार्हः(?)
१३ सदसस्पतिमद्भु	सदसस्पतिः	इन्द्रः (?)	प्रार्थना(?)
१४ यां मेधां देव	अग्निः	परमात्मा	अग्निः
१५ मेधां मे वरुणो	वरुणादयः	परमेश्वरविद्वांसौ	लिंगोक्ताः
१६ इदं मे ब्रह्म	देवाः	विद्वद्राजानौ (?)	मंत्रोक्ताः

देवताएं काल्पनिक होनेसे ग्राह्य नहीं हैं। अजमेरके पुस्तकोंमें दिये हुए देवतावाचक शब्द मंत्रस्थ पदोंके साथ बहुत अंशमें मिलते हैं। जिनके विषयमें मुझे शंका है वहां (?) ऐसा चिन्ह किया है। विचारी विद्वान् विचार करके निश्चय करें।

जहां तक हो सके वहां तक प्रयत्न करके मंत्रोक्त शब्द और सर्वानुक्रमणी की सूचना, इन दोनोंका विचार करके देवताका निश्चय करना उचित है।

वैसा अजमेरवालोंनें किया नहीं, इतनाही नहीं, परंतु अपनेहि द्वारा ऋग्वेदमें क्या मुद्रित हुआ है इसको भी सोचा नहीं; इसलिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और ऋग्यजुके दोनों भाष्य, इन चार पुस्तकोंमें ऋषिदेवताओंके विषयमें इतना परस्पर विरोध हुआ है, कि उसकी उपेक्षा करना अशक्य है।

अजमेर यंत्रालयस्थ पं. भीमसेनादि कई पंडितोंका हस्तकौशल्य अशुद्ध छापनेमें बडा प्रसिद्ध था। इनके कारण यह परस्पर विरोध छापा गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। अस्तु।

इस विचार से पता लगेगा कि, इस संपूर्ण अध्यायका ऋषि स्वयंभु ब्रह्म है, और मुख्यतया आत्मा, परमात्मा अथवा पुरुष देवता है, स्थान स्थान पर अग्निआदि मंत्रोक्त देवताएं हैं; जिनका तात्पर्य परमात्मा हि है। इस तात्पर्यको देखा जाय तो मं. १४।१५ की अजमेरवाले यजुर्वेदकी दी हुई देवता विशेष अशुद्ध प्रतीत नहीं होती, परंतु मंत्र १६ के विषयमें मंत्रोक्त व्यापक शब्दको छोडकर काल्पनिक अव्यापक शब्दोंको रखना ठीक नही प्रतीत होता।

(७) इस अध्यायकी मंत्र संख्या।

इस अध्यायमें १६ मंत्र हैं। परंतु प्रतीकोंसे सूचित किये हुए ९ मंत्र अधिक हैं। मंत्रका छोटासा हिस्सा जो सूचनाके लिये दिया जाता है, उसको प्रतीक कहते हैं। ऐसे प्रतीक निम्न मंत्रोंमें आये हैं:—

मंत्र	मंत्र-प्रतीक	प्रतीकोंसे सूचित किये हुए मंत्र
३ न तस्य प्रतिमा	१ हिरण्यगर्भः	१ हिरण्यगर्भः २ यः प्राणतः ३ यस्येमे हिमवन्तः ४ य आत्मदा
	२ मा मा हिंसीत्	५ मा मा हिंसीत्
	३ यस्मान्न जातः	६ यस्मान्न जातः ७ इन्द्रश्च सम्राट्
७ यं क्रंदसी अवसा	४ आपो हयद्बृहतीः ५ यश्चिदापः	८ आपोह यद्बृहतीः ९ यश्चिदापः

अर्थात् दो मंत्रोंमें पांच प्रतीक देकर नौ मंत्र सूचित किये हैं। अध्यायके १६ मंत्र और प्रतीक-सूचित ९ मंत्र मिलकर इस अध्यायके २५ मंत्र हुए। प्रतीकोंसे सूचित किये हुए मंत्र पूर्व अध्यायोंमेंसे दुबारा लेने आवश्यक होते हैं।

(८) मंत्रोंकी पुनरुक्ति।

वेदके चारों संहिताओंमें कई मंत्र पुनरुक्त हैं। यह पुनरुक्ति किस हेतुसे हुई है? यह सार्थ है या निरर्थक है? यह दोष है अथवा गुण है? इसका विचार करना आवश्यक है। श्री० स्वा० हरप्रसादजी वैदिक मुनीने प्रसिद्ध किया है, कि यह पुनरुक्ति सदोष है। पुनरुक्त मंत्रोंको अलग करके शेष मंत्रोंकी एक संहिता बनानेकी कल्पना उनहीकी प्रसृत की हुई है। श्री० स्वा० हरप्रसादजी बडे विद्वान्, बहुश्रुत और वेदका सरल अर्थ करनेमें प्रवीण हैं। उनका 'वेद-सर्वस्व' नामक ग्रंथ, जो थोडेहि दिनोंके पूर्व प्रसिद्ध हुआ था, उसमें उक्त आशयकी सूचना दी है। वेद सर्वस्व ग्रंथ निःसंदेह विद्वत्तापूर्ण और वेदके विषयमें विविधज्ञान देनेवाला है, परंतु शोकसे कहना पडता है कि, ऐसे विद्वान् के ग्रंथमें कुछ दोष भी हैं। उन दोषोंमेंसे वैदिक पुनरुक्तिके दोषरूप होनेके विषयमें संक्षेपसे यहां लिखना चाहता हूं।

पुनरुक्तिके दोन भेद हैं। (१) एक अर्थकी पुनरुक्ति। और (२) दूसरी शब्दोंकी पुनरुक्ति। स्वा० हरप्रसादजीनें शब्दोंकी पुनरुक्ति के विषयमें लिखा है। अर्थकी पुनरुक्तिके विषयमें इस समयतक किसीनें लिखा नहीं। अर्थकी पुनरुक्तिके उदाहरणः—

(१) इन्द्रश्च सम्राट् ॥ ऋ. ६।६९।८॥

(२) अधिराजो राजसु राजयातै ॥ अथर्व. ६।९८।१॥

(३) त्वमिन्द्राऽधिराजः ॥ अथर्व. ६।९८।२॥

(४) इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा ॥ ऋ. १।३२।१५॥

(५) त्वं राजा जनुषाम् ॥ ऋ. ४।१७।२०॥

(६) महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट् ॥ ऋ. १।१००।१॥

(७) भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनिः ॥ ऋ. ४।१९।२॥
(८) इन्द्रः सत्यः सम्राड् ॥ ऋ. ४।२१।१०॥

"(१) इन्द्र सम्राट् है। (२) इन्द्र राजाओंमें अधिराज है। (३) हे इन्द्र, तूं अधिराजा है। (४) इन्द्र स्थावर जंगमका राजा है। (५) तूं सृष्टिका राजा है। (६) महान् द्युलोकका और पृथ्वीका सम्राट्ट इन्द्र है। (७) इन्द्र पृथ्वीका सम्राट्ट और सत्यका स्रोत है। (८) इन्द्र सच्चा सम्राट् है।"

'इन्द्र सच्चा सम्राट् है।' ऐसा एकवार कहनेसे जो कार्य हो सकता है, वह कार्य इस प्रकार सैंकडों वाक्योंसे समाझाया गया है। एकही अर्थ समझानेके लिये अनेक प्रकारके वाक्योंका उपयोग किया जाता है। सब प्रकारकी पुनरुक्ति जो निकालना चाहते हैं, वे अर्थके पुनरुक्त वाक्य रखेंगे या नहीं?

अग्निके मंत्रोंमें 'होता' शब्द अग्निका विशेषण बीसियों वार आया है। 'होता' का अर्थ 'दाता, आदाता, भक्षणकर्ता और आह्वानकर्ता' इतनाही है। एक स्थानपर होता शब्दका प्रयोग करनेसे अग्निके उक्त गुणोंका बोध हो सकता है, फिर अनेक वार होता शब्दकी पुनरुक्ति किस कारण की है? क्या पुनरुक्तिको हटानेवाले विद्वान् विशेपणादि रूपमें आये हुए पुनरुक्त शब्दोंको भी हटाना चाहतें हैं?

इस प्रकार सब पुनरुक्त शब्दोंको हटाया जाय, तो नयाही वेद निर्माण होगा। साधारण पाठक भी ऊपर दिये हुए मंत्रोंको देख कर इतना जान सकते हैं कि, अनेक प्रकारोंसे एकहि विपयका प्रतिपादन वेदमें किया है, जिससे विषयका परिज्ञान अच्छी प्रकार होनेके लिये सहायता होती है। यह काव्यकी प्रतिभा है, और यही उत्तम प्रतिपादनकी शैली है। अर्थात् अर्थके अथवा आशयके पुनरुक्तिके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं, क्यों कि कोई विद्वान्, काव्यरसका ज्ञाता, उसको दोष नहीं कहता। अब बात रही मंत्रोंके पुनरुक्तिकी। उसका विचार अब करेंगें। वेदमें निम्न प्रकारकी पुनरुक्ति है:—

(१) अर्थकी पुनरुक्ति।
(२) शब्दोंकी पुनरुक्ति।
(३) वाक्योंकी पुनरुक्ति।
(४) मंत्रचरणोंकी पुनरुक्ति।
(५) मंत्रार्धोंकी पुनरुक्ति।
(६) पूर्णमंत्रोंकी पुनरुक्ति।
(७) मंत्रोंमें शब्दोंका पाठभेद होकर वाक्यों, चरणों, मंत्रार्धों और पूर्णमंत्रोंकी पुनरुक्ति।

अर्थात् पाठभेदके विना जैसेके वैसे मंत्र पुनरुक्त हुए हैं, और पाठभेदके साथ भी हुए हैं। इनमें अर्थकी पुनरुक्तिकी सार्थकता उक्त इन्द्रविषयक उदाहरणोंमें दिखाई गई है। अर्थोंकी पुनरुक्ति सार्थक माननेसे शब्दोंकी पुनरुक्ति आवश्यक हुआ करती है। शब्दोंका क्रम उलट पुलट करकेहि अर्थकी पुनरुक्ति की जा सकती है, जैसा कि उक्त उदाहरणोंमें 'सम्राट्' शब्द बारबार आया है। यदि यह न आता तो वाक्य बनही नहीं सकतेथे, और भिन्न प्रकारके काव्यमें विषय-प्रतिपादन हो ही नही सकता था। इस लिये शब्दोंकी पुनरुक्ति आवश्यक निश्चित हुई।

शेष रहीहुई पाठभेदोंके साथ और पाठभेदोंके रहित, पुनरुक्ति सदोष है, अथवा निर्दोष है, इसका विचार करनेसे पूर्व, पुनरुक्तिके विषयमें विद्वानोंकी संमति विचारपूर्वक देखेंगेः—

"'Rhetorical' or—to use at once a wider and a more intelligible term—'significant' repetition is a valuable element in modern style; used with judgement, it is as truly a good thing as clumsy repetition, the result of negligence, is bad. ......

"The writers who have most need of repetition, and are most justified in using it, are those whose

chief business it is to appeal not to the reader's emotions, but to his understanding; ...... The object ordinarily is not impressiveness for impressiveness' sake, but emphasis for the sake of clearness."

Page 209, The King's English, by
H. W. Fowler and F. G. Fowler.

'आजकलके भाषापद्धतिमें विशेष हेतुके साथ की हुई पुनरुक्ति असाधारण महत्त्व रखती है। विशेष सोच विचारके साथ की हुई पुनरुक्ति जितनी निश्चयसे अच्छी होती है, उतनीही विना सोच विचारके असावधानताके साथ की हुई पुनरुक्ति बुरी होती है।'.........'विशेषतया वारंवार पुनरुक्ति करनेवाले परंतु जिनकी पुनरुक्ति निर्दोष हुआ करती है, ऐसे लेखकोंका मुख्यतया कार्य उद्दिष्ट विषयको विशेष प्रकारसे समझाना हुआ करता है, न कि मनो-विकारोंको प्रक्षुब्ध करना। उद्दिष्ट विषय सुगम करनेकेलिये महत्त्वके वाक्यपर बल दिया जाता है, केवल जोषके लिये हि वाक्योंपर बल नहीं दिया जाता।"

यही म. फाऊलर साहब की संमति आज कल सब योरपके विद्वानोंके साथ मिलती है। वक्ता अपने वाक्योंको वारंवार उच्चारण करता है, और वाक्योंपर बल देता है, अथवा लेखक अपने विशेष वाक्योंकी पुनरुक्ति करता है; इसका हेतु उद्दिष्ट विषय श्रोताओं और पाठकोंको सुगमतासे समझानेका होता है। अर्थात् विषय समझानेके लिये की हुई पुनरुक्ति दोषरूप नहीं होती। यहां गौतमका वचन देखने योग्य है:—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्त-
मन्यत्रानुवादात्॥

गौतम. ५।५७

'अनुवाद को छोड कर शब्दोंकी और अर्थोंकी पुनरुक्ति दोषयुक्त है।'

अर्थात् विशेष उद्देश साध्य करनेके लिये जो शब्दोंका और अर्थोंका

अनुवाद किया जाता है, वह दोष *नही हुआ करता। परंतु मूर्खके प्रलाप के समान जो निरर्थक पुनरुक्ति हुआ करती है, वही दोषयुक्त होती है। वेदकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है; मूर्खोंके प्रलापके समान नहीं है; देखीए:—

बुद्धिपूर्वा वाकयकृतिर्वेदे॥ कणाद। वैशेषिक।

'वेदकी वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है।' अर्थात् इस वेदमें की हुई मंत्रोंकी पुनरुक्तिभी बुद्धिपूर्वक विशेष उद्देश साध्य करनेके लिये की है। गुरु पढानेके समय शिष्यको एकहि विषय कईवार विविध रीतीसे समझाता है। यहां परमेश्वर गुरु है, और उसकी पढाई वेद है:—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्॥
पतंजलिः। योगदर्शन। १।२६

'वह ईश्वर सब प्राचीनोंकाभी गुरु है।' प्राचीन अर्वाचीन सब मनुष्योंका वह गुरु है। गुरुका कार्य शिष्यको उत्तम रीतीसे समझाना होता है, और समझानेके लिये कई विशेष वाक्य अनेकवार कहनेकी आवश्यकता होती है। वक्तृत्वमें, पढाईमें तथा लेखनमें भी इस प्रकारकी पुनरुक्ति अत्यंत आवश्यक होती है। कोई विद्वान् इसको दोषरूप नहीं समझता इतने विचारके पश्चात् वैदिक मंत्रोंकी पुनरुक्तिका कार्य ध्यानमें आ सकता है। उदाहरण के लिये यजु० अ० ३६ में आया हुआ गुरुमंत्र लीजिए।

* यूरोपके कविवर्य शेक्सपीअरके जूलियस सीझर नामक नाटकमे आंटोनिके वक्तृतापूर्ण सभाषणमे But Brutus is an honourable man (परतु ब्रटस बडा सन्माननीय सज्जन है) यह वाक्य कईवार उच्चारण किया है। जिस वाक्यकी पुनरुक्तिसेहि वक्तृत्वका उद्दिष्ट-कार्य सिद्ध हुआ है। पुनरुक्तिके भयसे यदि यह वाक्य वहां एकहि वार रखा जाय, तो सब वक्तृत्व न केवळ सत्वहीन होगा, परंतु उस प्रभावशाली वक्तृत्व का सब (अमर) परिणाम भी नष्ट होगा। तात्पर्य विशेष हेतु के लिये सोच विचार कर और बुद्धिपूर्वक की हुई पुनरुक्ति अलंकाररूप होती है, न कि दोषरूप। "Good things will bear repeating."

इस अ० ३६ * में 'मानव जातिमें सच्ची शांति प्रस्थापित करनेका सच्चा उपाय' कहा है। पहिले दो मंत्रोंमें इंद्रियोंकी पवित्रताका और इन्द्रियोंके दोषोंको हटानेका उपदेश करके, अगले चार मंत्रोंमें परमेश्वरकी उपासना कही है, जिनमें गुरुमंत्र अथवा गायत्रीमंत्र सबसे पहिले आता है। शांति प्रस्थापित करनेके लिये आत्मशुद्धि और परमात्मोपासना अत्यंत आवश्यक है, इसमें मतभेद नहीं हो सकता। तथा उपासनाके लिये गुरुमंत्रकी अपेक्षा अधिक अच्छा मंत्र नहीं है, इस लिये उक्त अध्यायमें इस मंत्रकी अत्यंत आवश्यकता है। यह गुरुमंत्र (तत्सवितुर्वरेण्यं०) यजुर्वेद वाजसनेय संहितामें हि चार वार आया है। इसका अनुवाद निम्न-प्रकार है:—

ऋग्वेदमें	१ वार
यजुर्वेदमें	४ वार
तै. संहितामें	३ वार
सामवेदमें	१ वार
मैत्रायणीमें	२ वार

इस प्रकार इस एक मंत्रकी पुनरुक्ति है। और सब पुनरुक्ति पूर्वापर संबंधके अनुकूल है। इस अ० ३६ से गुरुमंत्र निकालनेपर अध्यायका उद्देश परिपूर्ण नहीं हो सकता। इस प्रकार सर्वत्र पुनरुक्ति सार्थ है। इस पुनरुक्तिको मंत्रका पुनरुच्चार अथवा अनुवाद कहा जा सकता है, यदि किसीका पुनरुक्ति शब्दके साथ द्वेष होगा।

ऋग्वेदमें आधे मंत्र बीसियों वार पुनरुच्चारित हुए हैं। परंतु उनकी उस प्रत्येक सूक्तमें इतनी आवश्यकता है, कि वहांसे उनका हिलाना अर्थका घात करना है। इसी प्रकार यजुर्वेदमें प्रतीकोंद्वारा सैंकडों मंत्र पुनरुच्चारित हैं, जैसे कि इस अ० ३२ में ९ मंत्र प्रतीकोंद्वारा सूचित किये हैं। मेरे बहुत प्रयत्न करनेपर एक भी प्रतीक मुझे व्यर्थ प्रतीत नहीं हुआ। प्रतीकोंसे सूचित किये हुए मंत्रोंकी आवश्यकता का अनु-

---

* यह अध्याय ३६ विस्तृत स्पष्टीकरणके साथ छपगया है। मूल्य ॥॰ है।

भव इसी अध्यायमें पाठक कर सकते हैं। यह विचार पाठभेदके विना पुनरुच्चारित मंत्रोंके विषयमें हुआ।

थोडे अथवा अधिक पाठभेदोंके साथ पुनरुच्चारित मंत्र भी चारों वेदोंमें सैंकडों हैं। इनको इसी अ० ३२ के स्पष्टीकरणमें पाठक नमूनेके स्वरूपमें देख सकते हैं। अ० ३६ शांतिकरण अध्यायके स्पष्टीकरणमें भी इस प्रकार अनेक मंत्र आये हैं, वे उस पुस्तकमें देखने योग्य हैं। अ० ३२ सर्वमेधाध्यायके स्पष्टीकरणके मं० ४ से १० तक तथा अ० ३६ के मंत्र. ११२ नमूने के लिये देखीये। देखते हि पता लगेगा, कि पाठभेद अर्थकी सहायता कर रहे हैं। तथा जहां उनकी पुनरुक्ति हुई है, वहां का पूर्वापर संबंध देखनेसे उनका हटाना अर्थकी हानि करनेवाला है। अस्तु इस प्रकार वेदमें आई हुई पुनरुक्ति निर्दोष है, इसका संक्षेपसे विचार हुआ। अब पुनरुक्तिसे लाभ देखीए:—

(९) पुनरुक्तिसे अर्थबोध।

वेदकी पुनरुक्ति से जो हमारा लाभ होना संभव है, उसका विचार अब करना है। मेरे ख्यालमें वेदमें मंत्रोंकी पुनरुक्ति निर्दोष और आवश्यक है इतना ही नही, परंतु वेदका तात्पर्य निकालनेके लिये इन अभ्यस्त (पुनरुक्त) मंत्रोंकी अत्यंत आवश्यकता है। बुद्धिपूर्वक पुनरुक्तिका नाम 'अभ्यास' (Intentional repetition) है। और इस प्रकार अभ्यासरूप पुनरुक्त वाक्योंकि संगतिसे ग्रंथका सच्चा तात्पर्य निकल सकता है। देखीए:—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य—निर्णये॥

(१) **उपक्रम**—ग्रंथका प्रारंभ (Beginning),
उपसंहार—ग्रंथका अंतिम भाग (Conclusion),
(२) **अभ्यास**—ग्रंथमें की हुई बुद्धिपूर्वक पुनरुक्ति (Intentional repetition),
(३) **अपूर्वता**—ग्रंथकी विशेषता (Speciality),
(४) **फल**—ग्रंथका लोकोंपर होनेवाला परिणाम(Effect, aim),

(५) अर्थवाद—गौरव के लिये लिखे हुए प्रसंग (Eulogium),
(६) उपपत्ति—साधक और बाधक प्रमाणोंकी न्यायशास्त्रानुकूल संगति (Argument),

ये नियम ग्रंथका तात्पर्य निकालनेके लिये प्राचीन मीमांसकोंनें स्वीकार किये हैं। आजकलके सब विद्वानोंको येही संमत हैं, इस लिये हमको भी इनका स्वीकार करना उचित है।

उक्त नियमोंमें ऐसा कहा है कि, 'अभ्यास' (अर्थात् ग्रंथमें बुद्धिपूर्वक किये हुए पुनरुक्त वाक्यों) की संगति ग्रंथका तात्पर्य निश्चित करनेके लिए एक साधन है। जो लोक वेदके पुनरुक्त मंत्रोंको अलग करके नया वेद निर्माण करना चाहते हैं, उनके प्रयत्नसे '**वेदका सच्चा तात्पर्य देखनेका एक मुख्य और उत्तम साधन**' दूर होनेका बडा डर है!!!

ग्रंथकार अपने ग्रंथमें जिन वाक्योंको अनेकवार लिखता है, वेहि पुनरुक्त वाक्य उस ग्रंथका तात्पर्य निश्चित करनेके लिये अत्यंत उपयोगी होते हैं। यह तात्पर्य-निश्चयका नियम आजकलके सब तत्त्व ज्ञानियोंको भी संमत है, तथा यही नियम प्राचीन कालमेंभी संमत था, इसी लिये इस समय तक किसी ऋषीमहर्षीनें वेदसे अभ्यस्त (पुनरुक्त) वाक्योंको निकाला नहीं। ये अभ्यास-वाक्य आजकलकी अवस्थामें हमें अच्छे मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। आजकल वेदका सच्चा ज्ञान बतानेवाले और चारों वेदोंको जाननेवाले विद्वान् नहीं हैं। वेदके विषयमें भ्रमजाल फैला हुआ है। युरोपीय विद्वानोंके प्रयत्नसे वेदकी निरर्थकता सिद्ध होनेका डर है, ऐसी अवस्थामें वेदका तात्पर्य और सच्चा आशय बतानेवाले अभ्यास-मंत्र हि हमारे सच्चे मार्गदर्शक हैं। इनही के सहायसे और इन मंत्रोंका विशेष परिशीलन करनेसे हम सत्य वैदिक भाव को जान सकते हैं।

इस प्रकार पुनरुक्त मंत्रोंकी योग्यता है। इस लिये इन मंत्रोंका विशेष परिशीलन करनेकी आवश्यकता है, न कि इनको अलग करनेकी। इनको अलग करना, हमारे गाढ अंधारमय मार्गके दीपोंको बुझानेके समान, अथवा अपनेहि जहाजको स्वयं अनेक सुराख करनेके समान, बडा हानि-कारक है।

सब पुनरुक्त (अभ्यास) मंत्रोंको अलग करके और उनका वर्गीकरण करके एक विस्तृत ग्रंथ मैं लिख रहा हूं, जिससे पाठकोंको पता लगेगा कि, पुनरुक्त मंत्रोंका वेदार्थ-निर्णय करनेमें कितना महत्व है, और पुनरुक्त मंत्रोंकी संगतिसे वेदका सच्चा सार किस प्रकार जाना जा सकता है।

(१०) पुनरुक्ति और अर्थकी भिन्नता।

कई कहते हैं कि, पुनरुक्त मंत्रोंके अर्थ स्थान स्थान पर भिन्न होते हैं। परंतु यह भ्रम है। जो लोक स्वयं मंत्रोंकी संगति लगानेका प्रयत्न करते हैं, वे इस मतका प्रचार कर नहीं सकते। यह मत उन लोकोंका है कि, जो स्वयं मंत्रोंकी संगति नहीं लगा सकते, परंतु अपनी तर्कशक्तिसे हि आपत्तिका निवारण करनेका यत्न करते हैं। शब्दार्थकी और मंत्रार्थकी अनवस्था इस मतसे होनी है, और जहां अनवस्था होगी, वहां धर्मपर विश्वास रहना असंभव है। शब्दार्थकी और मंत्रार्थकी निश्चित व्यवस्था ऋषिमुनियोंकी की हुई है, उसीको लेकर हम अपनी सब आपत्तियां दूर कर सकते हैं। वेदमंत्रहि अपने अर्थ प्रकट कर सकते हैं, वेदके अनेक शाखाओंके पाठभेद इस कार्यके लिये अच्छी सहायता दे सकते हैं, फिर डर डरके पुनरुक्त मंत्रोंके भिन्नार्थवाद-रूपी विषवृक्षकी शरण क्यौं ली जाती है? विषवृक्षका आश्रय परिणाममें हितकारक नहीं हो सकता।

मंत्रोंकी पुनरुक्ति कोई ऐसा पहाड नहीं कि, जहांसे मार्ग नहीं हो सकता। पुनरुक्त मंत्र स्थान स्थान पर इस लिये बैठे हैं कि, हमको मार्ग बतला कर, विना आयास हमारा बेडा पार कर दें। सहायता करनेवालोंसे हमें भय नहीं हो सकता, और जो मित्रोंसे डरेगा उसको निर्भयता प्राप्त नहीं हो सकती। इस लिये इन पुनरुक्त मंत्रोंकी सहायता लेकर हमको अपना मार्ग आक्रमण करना चाहिए।

स्वाध्यायमंडल
औंध
जि. सातारा
१।११।१८

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

यजुर्वेदका स्वाध्याय।

अध्याय ३२

"सर्व-मेध-यज्ञ"

(१) अनेक नामों द्वारा एक ईश्वरका बोध।

(ऋषिः—स्वयंभु ब्रह्म। देवता—परमात्मा, पुरुषः, परं ब्रह्म वा।)

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥ १॥

[१] **अर्थ**—(तत् एव अग्निः) वह ही अग्नि, (तत् आदित्यः) वह ही आदित्य, (तत् वायुः) वह ही वायु, (तत् उ चन्द्रमाः) वह निश्चयसे चंद्रमा है। (तत् एव शुक्रं) वह ही शुक्र अर्थात् शुद्ध और पवित्र है; (तत् ब्रह्म) वह ही ब्रह्म है, (ताः आपः) वह ही आप् अर्थात् जल है और (सः प्रजापतिः) वह ही प्रजापति है॥ १॥

भावार्थ—अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति इन शब्दोंद्वारा निश्चयसे उसी परमात्मशक्तिका बोध होता है॥ १॥

(२) उसीसे सब गति होती है ।

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यंचं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ २ ॥

(३) उसकी कोई प्रतिमा नहीं ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः॥
हिरण्यगर्भ इत्येषः॥ मा मा हिंसीदित्येषा॥
यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३ ॥

[२] अर्थ—(वि-द्युतः) विशेषतेजस्वी और (*पुरुषात्=पुर्-उषात्) सृष्टिमें पूर्ण व्यापक परमात्मासे (सर्वे) सब (नि-मेषाः) निमेष आदि कालके अवयव (जज्ञिरे) हो गये हैं । कोईभी (एनं) इस परमात्मका (न ऊर्ध्वं) न उपर, (न तिर्यञ्चं) न तिरच्छा, (न मध्ये) न मध्यभागमें (परि-जग्र-भत्) पूर्णतासे ग्रहण कर सकता है ॥ २ ॥

भावार्थ—कालके सब अवयव और सब गति उसी तेजस्वी सर्वव्यापक परमात्मासे प्रकट हो रही है । परंतु उस परमात्माको कोईभी ठीक प्रकार-अर्थात् सब प्रकारसे-नहीं जानता ॥ २ ॥

[३] अर्थ—(यस्य) जिसका (महत्) महान (नाम) प्रसिद्ध (यशः) यश है, (तस्य) उस परमात्माकी कोई (प्रति-मा) प्रतिमा अथवा उपमा (न

*पुरि शयनात् पूरणाद्वा पुरुषः । (पुरीमे रहने अथवा व्यापनेसे पुरुष कहते है ।) पालनाद्वा । (पालन करनेसे पुरुष कहते है ।) ॥ पुरुषः पुरि-षादः, पूः शरीरं बुद्धिर्वा तयोरसौ विषयोपलब्ध्यर्थं सीदतीति पुरिषादः । पूरयतेर्वा पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्वात् जगदिति पुरुषः । पूरयत्यन्तर इति अपुरुषमभिप्रेत्य ॥ निरु. निघण्टुभाष्य-दुर्गाचार्य. २।३॥ (सब विश्वमें व्यापक होनेसे परमात्माको पुरुष कहते हैं । पुरीमें वसता है उसको पुरुष कहते हैं । सब जगत् परमेश्वरकी पुरी अर्थात् परमेश्वरसे पूर्ण अथवा परिपूर्ण है.)

(४) परमात्मा सर्व-व्यापक है।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

अस्ति) नहीं है। (हिरण्य-गर्भ इति एषः) 'हिरण्यगर्भ' आदि मंत्रों-द्वारा तथा, (मा मा हिंसीत् इति एषा) 'मा मा हिंसीत्' इस मंत्रसे, और (यस्मात् न जातः इति एषः) 'यस्मान्न जात' इन मंत्रोंसे उसका वर्णन होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इन उक्त मंत्रोंद्वारा जिसके महान् प्रसिद्ध यशका गायन हुआ है, उस आत्माकी कोई प्रतिमा अथवा उपमा नहीं है ॥ ३ ॥

[४] **अर्थ**—(ह) निश्चयसे (एषः देवः) यह देव अर्थात् दिव्य परमात्मा (सर्वाः प्रदिशः) सब दिशा उपदिशाओं में (अनु) साथ साथ रहता है। (सः ह) वह निश्चयसे (पूर्वः) प्राचीन है और (जातः) प्रसिद्ध है। (सः उ) वह निश्चयसे (गर्भे अन्तः) सबके बीचमें है। (स एव जातः) वह हि निकट, पास है, और निश्चयसे (स) वह हि सदा (*जनिष्यमाणः) निकट रहेगा। हे (जनाः) लोको, वह परमात्मा (सर्वतः-मुखः) सर्वत्र मुख आदि अवयवोंकी शक्तियोंको धारण करनेवाला (प्रत्यङ्-प्रति अंचति) प्रत्येक पदार्थमें (तिष्ठति) रहता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह दिव्य परमात्मा सब दिशा उपदिशाओंमें पूर्णतया व्यापक है। वह सबसे प्राचीन, सबसे प्रसिद्ध और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबके बीचमें व्यापक है। वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसाही आगेभी रहेगा। वह मुख आदि अवयवोंकी शक्तियोंको प्रत्येक पदार्थमें व्यापक रहता हुआ, धारण करता है ॥ ४ ॥

---

* जन् धातुके अर्थ—To create पैदा करना; To produce उत्पन्न करना; To be होना, अस्तित्व रखना। **जातः**—Present विद्यमान, उपस्थित, हाजिर, मौजूद; ready at hand हाजिर, निकट उपस्थित। इन अर्थोंको उक्त मंत्रका अर्थ करनेके समय विचारना चाहिए।

(५) परमेश्वरके तीन तेज और सोलह कलाएं ।

यस्माज्जातं न पुरा किंचनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ॥ प्रजापतिः प्रजया सं रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ ५ ॥

(६) सबका निर्माण और धारण कर्ता ईश्वर ।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ॥ यो अंतरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

[५] **अर्थ**—(यस्मात् पुरा) जिसके पूर्व (किं च न एव) कुच्छ भी (न जातं) नही बना था। परंतु (यः) जिसनें (विश्वानि भुवनानि) सब भुवनोंको (आ–बभूव,* भावयामास) बनाया है। (प्रजा–पतिः) सब प्रजाओंका एक स्वामी (प्रजया) प्रजाके साथ (सं–रराणः) रहनेवाला और (षोडशी) सोलह कलाओंसे युक्त होता हुआ (सः) वह परमात्मा (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों तेजोंको (*सचते) धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिसके पूर्व कुच्छभी नहीं बनाथा, परंतु जिसने सब कुच्छ बनाया है, वह सोलह कलाओंसे युक्त परमात्मा, सबका सच्चा स्वामी है। वह सबके साथ साथ रहता हुआ तीन तेजोंको धारण करता है ॥ ५ ॥

[६] **अर्थ**—(येन) जिसने (द्यौः) द्युलोक (उग्रा) तेजस्वी बनाया, और

***आ=भू**=To be present मोजूद रहना; To continue one's existence अपना अस्तित्व रखना; to pervade व्यापक होना; to assist सहायता करना; To be, to exist होना, रहना; To help with super-human power अमानुष अथवा दैवी शक्तिसे सहाय्य करना; To make बनाना ॥ ये इस धातुके अर्थ है ॥ ***सच्**—To associate one's self with साथ रहना; to assist मदत करना; to love प्रेम करना To honour सन्मान करना ॥

यं क्रंदसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ॥ यत्राऽधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ आपो ह यद्बृहतीर् यश्चिदापः ॥ ७ ॥

(च पृथिवी) भूमी (दृढा) सखत बनाई है। (येन) जिसने (स्वः) प्रकाश (स्तभितं) स्थिर किया और (येन नाकः) जिसने सुख और आनंद प्रदान किया है। (यः) जो (अंतरिक्षे) आकाशमें (रजसः) लोकोंको (वि-मानः) निर्माण करता है, उस (क-स्मै) आनंदस्वरूप (देवाय) देव अर्थात् परमात्माके लिये हि (हविषा) अर्पणद्वारा पूजा (विधेम) हम सब करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिसनें द्युलोक प्रकाशमय बनाया और पृथिवी ऐसी सखत बनाई, जिसनें तेज और आनंद प्रदान किया, और जिसनें आकाशमें नाना लोकोंको निर्माण किया, उस आनंद स्वरूप आत्माकीहि हम सबको पूजा करनी चाहिए। उसके स्थानपर किसी अन्यकी पूजा करनी योग्य नहीं ॥ ६ ॥

[७] **अर्थ**—(अवसा) बलसे (तस्तभाने) स्थिर रखे हुए परंतु वास्तवमें (रेजमाने) चलायमान, गतिमान, कांपनेवाले अथवा तेजस्वी (*क्रंदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (मनसा) मननशक्तिसे (यं) जिसको (अभि-ऐक्षेतां) देखते हैं, और (यत्र) जिसमें (उदितः सूरः) उदयको प्राप्त हुआ सूर्य (अधि वि भाति) विशेष प्रकाशित होता है, उस (कस्मै) आनंदमय (देवाय) परमात्माके लिये (हविषा) अर्पणद्वारा हम सब पूजा

* **क्रंदसी**—शब्द करनेवाले। स्वपक्ष परपक्षके लढनेवाले दोनों सैन्योंको 'क्रंदसी' कहते हैं। यहां अलंकारसे दोनों लोकोंके लिये यह शब्द लगाया है।

(७) ज्ञानी उस आत्मको देखता और वर्णन करता है ।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम् ॥ तस्मिन्निदꣳ सञ्च विचैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥ ८ ॥

(विधेम) करें अथवा करते हैं । 'आपो ह यद्बृहतीः' और 'यश्चिदापः' इन दो मंत्रोंसे उस परमात्माका वर्णन होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिसकी शक्तिसे स्थिर रहे हुए, परंतु जिसके डरसे कांपने-वाले अथवा चलनेवाले द्युलोक और पृथिवीलोग–और इनमें रहनेवाले ज्ञानी मनुष्य–मननशक्तिद्वारा जिसको सर्वत्र देखते हैं; और जिसमें सूर्यके समान तेजस्वी गोलोंका उदय होकर प्रकाश होता है; उस मंगलस्व-रूप परमात्माकी पूजा हम सबको करनी चाहिए । उसके स्थानपर किसी अन्यकी उपासना करनी उचित नहीं ॥ ७ ॥

[८] **अर्थ**—(वेनः) ज्ञानी मनुष्य (तत्) वह ब्रह्म (गुहा निहितं) गुप्त-स्थानमें अथवा बुद्धिमें रहा हुआ, तथा (सत्) त्रिकालाबाधित–नित्य है ऐसा (पश्यत्) देखता है । (यत्र) जिस ब्रह्ममें (विश्वं) सब जगत् (एक–नीडं) एक आश्रयको (भवति) प्राप्त होता है । (तस्मिन्) उस ब्रह्ममें (इदं सर्वं) यह सब जगत् (सं–एति च) एकत्रित होता है और (च वि–एति) पृथक् भी होता है । (सः) वह परमात्मा (प्रजासु) सब प्रजाओंमें (वि–भूः) व्यापक है, और (ओतः प्रोतः च) ओया और प्रोया हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ज्ञानी मनुष्य उस परमात्माको, प्रत्येक पदार्थमें छिपा-हुआ, नित्य, सबका एक आश्रय, उत्पत्तिके समय सबका संयोग करने-वाला और प्रलयमें सबका वियोग करनेवाला सब बनेहुए जगतमें व्यापक, और कपडेमें ताने और बानेके समान सर्वत्र भराहुआ जानता और अनुभव करता है ॥ ८ ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गंधर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ॥ त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥ ९ ॥

(८) वह हमारा भाई है ।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

[९] अर्थ—(विद्वान्) ज्ञानी (गं-धर्वः*) वाणीका प्रेरक (नु) निश्चयसे (तत् अ-मृतं) उस अमर ब्रह्मका (प्र-वोचेत्) प्रवचन, वर्णन, कर सकता है। उस ब्रह्मका (सत् धाम) सत्य स्थान (गुहा) बुद्धिमें (वि-भृतं) शोभता है। (अस्य) इसके (त्रीणि पदानि) तीन पद (गुहा निहितानि) बुद्धिमें रखे हैं। (यः) जो (तानि वेद) उनको जानता है (स) वह ज्ञानी (पितुः पिता) पालकका भी पालक (असत्) होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी वक्ता उस ब्रह्मका स्वरूप वर्णन कर सकता है। उसका उत्तम स्थान हृदयमें सुशोभित हुआ है। जो बुद्धिमें रखे हुए इसके तीनों पदोंको जानता है, वह पालकोंका भी पालक बनता है ॥ ९ ॥

[१०] अर्थ—(नः) हम सबका (सः) वह परमात्मा (बन्धुः) भाई, और (जनिता) उत्पादक है। (सः) वह (वि-धाता) विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है। वह (विश्वानि भुवनानि) सब सृष्टिके सब (धामानि) स्थान (वेद) जानता है। (यत्र तृतीये धामन्) जिस तीसरे स्थानमें (अ-मृतं आनशानाः) अमरपनका अनुभव करनेवाले (देवाः) ज्ञानी (अध्यैरयन्त) स्वेच्छासे विचरते हैं ॥ १० ॥

---

* गंधर्वः—गां वाक्शक्तिं धारयति पोषयति वा स गंधर्वः ॥ उत्तम वक्ता ।
यजु. स्वा. ३

(९) सत्यके अटल धागेका दर्शन ।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः
प्रदिशो दिशश्च ॥ उपस्थाय प्रथमजामृत-
स्यात्मनात्मानमभि संविवेश ॥ ११ ॥

भावार्थ—हम सबका वह परमात्मा भाई, जनक और पोषक है। वह सब जगतके सब स्थानोंको जानता है। अमरपनका अनुभव करनेवाले ज्ञानी लोक प्रकाशमय आनंदके स्थानमें, अर्थात् उस आनंदस्वरूप परमात्मामें, स्वेच्छासे विचरते हैं ॥ १० ॥

[११] **अर्थ**—(भूतानि परीत्य*) सब भूतोंको जानकर (लोकान् परीत्य) सब लोकोंको जानकर (सर्वाः दिशः प्रदिशः च परीत्य) सब दिशा और उपदिशाओंको जान कर (ऋतस्य) सत्य नियमके (प्रथम-जां) पहिले प्रकाशककी (उप-स्थाय+) उपासना करके (आत्मना) केवल आत्मस्वरूपसे हि (आत्मानं) परमात्मामें ज्ञानी (अभि-सं-विवेश) सब प्रकारसे प्रविष्ट होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सब प्राणिमात्रों, सब पंचभूतों, सब लोकलोकांतरों और सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले पदार्थोंको यथावत् जानकर, तथा सत्य नियमके पहिले प्रकाशक परमात्माकी उपासना करके ज्ञानी भक्त केवल आत्म-स्वरूपसे परमात्मामें प्रविष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

* **परि-इ**=To go round, चारों ओर जाना; To surround चारों ओर होना, घेरना; To think of विचार करना; To reach to प्राप्त होना; To grasp पकडना; To perceive, Ponder जानना, जांचना ॥ + **उप-स्था**= To stand near पास रहना; To serve सेवा करना; To worship पूजा-उपासना-करना; To meet प्राप्त करना; To form friendship with मित्रता करना; To be present मौजूद होना; To stand under for support आश्रयके लिये अंदर आना ॥

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्
परि दिशः परि स्वः ॥ ऋतस्य तन्तुं वितंतं
विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत् ॥१२॥

(१०) सद्बुद्धिके लिये प्रार्थना ।

(देवता—सदसस्पतिः इन्द्रः)

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ॥
सनिं मेधामयासिष ९ स्वाहा ॥ १३ ॥

[१२] अर्थ—(सद्यः) तत्काल (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीके बीचके सब पदार्थोंको (परि इत्वा) जान कर, (लोकान् परि इत्वा) सब लोकोंको जान कर, (दिशः परि इत्वा) दिशाओंको जान कर, (स्वः परि इत्वा) आत्मप्रकाशको जान कर, (ऋतस्य) अटल सत्यके, (वि-ततं तन्तुं) फैले हुए धागेको (वि-चृत्य*) अलग करके, जब (तत् अपश्यत्) उसको देखता है, तब (तत् अभवत्) वैसा बनता है, कि जैसा (तत् आसीत्) वह था ॥ १२ ॥

भावार्थ—जब ज्ञानी आकाशसे पृथ्वी तक के सब पदार्थोंको, सब सूर्यादि गोलोंको, और सब दिशाओंमें रहनेवाले सब पदार्थोंको तथा आत्मशक्तिको जानता है, और जब सत्यके विस्तृत सूत्रको, अर्थात् सूत्रात्माको, अलग अनुभव करने लगता है, तब उस ब्रह्मको साक्षात् करता है, और वैसा बनता है कि, जैसा पहिले था ॥ १२ ॥

[१३] अर्थ—(इन्द्रस्य प्रियं) जीवात्माके प्रियमित्र, (काम्यं) प्राप्तव्य, और (अद्भुतं) विलक्षण (सदसः पतिं) विश्वके स्वामीके पास (सनिं) योग्य उपभोगकी और (मेधां) उत्तम बुद्धिकी (अयासिषम्) याचना करता हूं ॥ (स्वाऽऽहा) स्वार्थ-त्याग ॥ १३ ॥

---

* वि-चृत्—To loosen ढीला करना, अलग करना; To detach अलग करना; To unite मिलाना; To open खुला करना; To set free स्वतंत्र करना ॥

(देवता—अग्निः)

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ॥ तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥

(देवता—वरुण-अग्नि-प्रजापति-इन्द्र-वायु-धातारः)

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः॥ मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ १५ ॥

भावार्थ—सबको प्राप्त करने योग्य, अद्भुत और जीवात्माके प्रिय-मित्र जगदीश्वरके पास हम सबकी प्रार्थनाहै कि, वह हम सबको योग्य उपभोगके पदार्थ और उत्तम बुद्धि देवे ॥ मैं स्वार्थ-त्याग करता हूं ॥१३॥

[१४] **अर्थ**—(देव-गणाः) विद्वानोंके समूह और (पितरः) रक्षकोंके समूह (यां मेधां) जिस उत्तम बुद्धिकी (उपासते) पूजा करते हैं। हे (अग्ने) तेजस्वी ईश्वर ! (तया मेधया) उस बुद्धिसे (अद्य मां) आज मुझे (मेधाविनं) बुद्धिमान् (कुरु) करो ॥ (स्वाऽऽहा) स्वार्थ-त्याग ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! ज्ञानी और रक्षक जिस प्रकारकी बुद्धि चाहते हैं, उस प्रकारकी बुद्धिसे मुझे युक्त करो ॥ मैं स्वार्थत्याग करता हूं ॥१४॥

[१५] **अर्थ**—(वरुणः) श्रेष्ठ ईश्वर (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) देवे। (प्रजापतिः अग्निः) प्रजापालक तेजस्वी ईश्वर (मेधां ददातु) मुझे उत्तम बुद्धि देवे। (च च) और (इन्द्रः वायुः) परम ऐश्वर्यवान् और गति करनेवाला ईश्वर (मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि प्रदान करे। (धाता) धारक ईश्वर (मे मेधां) मुझे उत्तम बुद्धि (ददातु) प्रदान करे ॥ (स्वाऽऽहा) स्वार्थ-त्याग ॥ १५ ॥

भावार्थ—सबसे श्रेष्ठ, प्रजापालक, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, प्रेरक और सबका आधार ईश्वर मुझे उत्तम बुद्धि प्रदान करे ॥ मैं स्वार्थत्याग करता हूं ॥ १५ ॥

(११) ब्राह्मण और क्षत्रियकी समान उन्नति ।

(देवताः—देवाः)

**इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ॥
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते
स्वाहा ॥ १६ ॥**

[१६] अर्थ—(मे इदं ब्रह्म) मेरा यह ज्ञानतेज (च मे इदं क्षत्रं) और मेरा यह क्षात्रतेज (च उभे) ये दोनों (श्रियं) शोभाको (अश्नुतां) प्राप्त हों। (देवाः) विद्वान् अथवा दिव्यगुण (मयि) मेरे में (उत्तमां श्रियं) उत्तम शोभाको (दधतु) धारण करें । (तस्यै ते) उस तेरे लिये (स्वाऽऽहा) स्वार्थ-त्याग ॥ १६ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञान और शौर्य, मिल कर उत्तम तेजस्विताकी प्राप्ति करें । सब उत्तम विद्वान और सद्गुण मेरे में तेजकी स्थापना करें ॥ उस तेजकी प्राप्तिके लिये तुम स्वार्थत्याग करो ॥ १६ ॥

यजुर्वेद अध्याय ३२ का स्वाध्याय

"सर्व-मेध-यज्ञ"

मंत्र १

(१) अनेक नामों द्वारा एक ईश्वरका बोध।

"अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति आदि नामोंसे वही एक परमात्मा ज्ञात होता है।" यह आशय पहिले मंत्रका है। वेदमें आनेवाले "अग्नि, वायु" आदि अनेक नामोंसे भिन्न भिन्न देवोंका बोध लेना है, अथवा अनेक नामोंसे एक हि देवताका बोध लेना है, इस शंकाका उत्तर इस प्रथम मंत्रने दिया है। जिस प्रकार एक हि पुरुष को पिता, भाई आदि गुणबोधक अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथापि इन अनेक शब्दोंसे उस एकहि व्यक्ति का बोध होता है; उसी प्रकार "अग्नि, वायु" आदि अनेक गुण-बोधक शब्दोंसे एकहि परमात्माका बोध होता है। इस लिये भिन्न नामोंके भ्रमसे अनेक-देवता-वादमें फंसना किसीकोभी उचित नहीं। यही बात ऋग्वेद में भी कही हैः—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ. १।१६४।४६॥; अथर्व. ९।१०।२८॥, निरुक्त. ७।१८॥, १४।१॥; ऋग्विधा. १।२५।७॥; बृहद्देवता ४।४२॥.

"एक हि सत् स्वरूप परमात्माको (विप्राः) ज्ञानी लोग (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकारसे बोलते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्णः, गरुत्मान्, सत्, यम, मातरिश्वा आदि नामोंसें एकहि परमात्माका वर्णन करते हैं।" इस ऋग्वेदमंत्रका भाव और उक्त यजुर्वेद मंत्रका आशय एकहि है। भिन्न-देवता-वादकी कल्पना वेदके अर्थ करनेके समय मनमें नहीं रखनी चाहिए। इसी हेतुसे अथर्ववेदने कहा हैः—

ईश्वरके एकत्वका निश्चय।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवंति ॥ २१ ॥

 अथर्व. १३।४।१६-२१॥

"वह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम, आदि अनंत संख्या से (न उच्यते) कहा नहीं जाता। (इदं) यह संपूर्ण जगत् (तं निगतं) उसमें निःशेष गया है। अर्थात् उसीमें है। वह (सहः) सहन शक्तिसे युक्त अर्थात् अत्यंत बलवान है। (स एषः एकः) वह एकहि है। (एक-वृत्) केवल एकहि है। (एकः एव) निश्चयसे एक है। सब (देवाः) तेजस्वी पदार्थ इसमें (एक-वृतः) केवल एक बनकर रहते हैं।"

लिंगभेद और वचनभेद।

इस प्रकार एक ईश्वरकी कल्पना सब वेदके भागोंमें है। इस मंत्रमें (१) अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्र, प्रजापति शब्द पुल्लिंग हैं। (२) आपः शब्द स्त्रीलिंग है और (३) शुक्र और ब्रह्म शब्द नपुंसकलिंग हैं। ये तीनों लिंगोंके शब्द एकहि परमात्माके लिये आये हैं, यह बात विशेष मनन करने योग्य है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि, शब्दोंके लिंगभेदसे उद्दिष्टका भेद नहीं होता। देखीएः—

पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
ब्रह्मा	——	ब्रह्म
देवः	देवी	दैवतम्
कालः	काली	——
यमः	यमी	——
इन्द्रः	इन्द्राणी	——
सः	सा	तत्
एकः	एका	एकं

आदि शब्द तीनों लिंगोंमें रहते हुए एकहि परमात्माके वाचक बने रहते हैं। जिस प्रकार लिंगभेदके कारण कोई उद्दिष्ट भेद नहीं होता, उसी प्रकार वचनभेदके कारण भी कोई उद्दिष्ट भेद नहीं होता।

प्रजापतिः—शब्द एकवचनी है।

अश्विनौ—शब्द द्विवचनी है।

आपः—शब्द बहुवचनी है।

परंतु उक्त मंत्रोंके आधारसे ये तीनों वचनोंके शब्द उसी एक अद्वितीय परमेश्वरके बोधक होते हैं। अर्थात् मंत्रोंमें लिंगभेद* और वचनभेद होनेपर भी उद्दिष्ट एकहि परमात्माका बोध सब शब्द करते हैं। अब देखना है कि, इन भिन्न नामोंसे क्या क्या भाव लेना हैः—

ईश्वरके गुणबोधक नाम।

(१) **अग्निः**—अग्रणी, (Leader) नेता, चलानेवाला, तेजस्वी, ज्ञानी, परमेश्वर।

(२) **आदित्यः**—(आ-ददाति) जो सबका आदान-स्वीकार-करता है अर्थात् जिसनें सबको पकड रखा है। अथवा **'अ-दिति'**

* इस विषयमें "ईशोपनिषद्का स्वाध्याय" नामक पुस्तक देखीए जो यजु. अ. ४० का स्वाध्याय है। मूल्य ×॥=

अर्थात् अ-बद्ध, मुक्त, स्व-तंत्र अवस्थाका भाव आदित्यसे जाना जाता है। जो नित्यमुक्त है।

(३) **वायुः**—(वा-गतिगंधनयोः) गति देनेवाला, संचालक।

(४) **चन्द्रमाः**—(चदि-आल्हादे) आनंद देनेवाला।

(५) **शुक्रं**—स्वच्छ, निर्दोष, वीर्य और बलयुक्त।

(६) **आपः**—(आप्नोति व्याप्नोति वा) सर्वत्र प्राप्त और सब स्थानोंमें व्यापक होनेवाला।

(७) **ब्रह्म**—(बृहत्वात्, बृंहणत्वाद् वा) सबसे बडा अथवा सबको घेरनेवाला।

(८) **प्रजा-पतिः**—प्रजापालक, जगत्पालक, सबका पालनकर्ता।

(९) ***इन्द्रः**—परम ऐश्वर्यवान्, स्वामी, सबका अधिपति।

(१०) **मित्रः**—सबका मित्र, सबका हितकर्ता।

(११) **वरुणः**—श्रेष्ठ, वरिष्ठ।

(१२) **दिव्यः**—अद्भुत, तेजस्वी, श्रेष्ठ।

(१३) **सु-पर्णः**—(सु-पूर्णः) सब स्थानोंमें उत्तमतासे परिपूर्ण।

(१४) **गरुत्मान्**—(गुरु-मान्, गरिमन्) गुरुत्वयुक्त, श्रेष्ठ।

(१५) **एकः**—जो अ-द्वितीय अर्थात् अकेला एकहि है।

(१६) **सत्**—जो सदा एक जैसा रहता है।

(१७) **यमः**—(नियमनकर्ता) सब जगतका नियंता, नियामक।

(१८) **मातरिश्वा**—(मातरि आकाशे श्वसिति निवसति) सब आकाशमें रहनेवाला अर्थात् सर्वव्यापक।

(१९) **सहः**—बलवान्।

(२०) **एक-वृत्**—सदा अकेला हि रहनेवाला।

(२१) **तत्**—(तन्) विस्तृत अथवा व्यापक। वह ईश्वर। प्रसिद्ध।

---

* 'सत्य शांतिका सत्य उपाय' नामक पुस्तक (यजु. अ. ३६ का स्वाध्याय) में अन्य देवतावाचक शब्दोंके अर्थ देखीए × मूल्य ॥।

इस प्रकार अन्य नामोंके विषयमें जानना चाहिए। अर्थात् ये सब नाम उसी एक ईश्वरके अनेक गुणोंका प्रकाश करते हैं। अस्तु। इस प्रकार प्रथम मंत्रका भाव देखनेके पश्चात् अब द्वितीय मंत्र देखेंगे—

मंत्र २

(२) उसीसे सब गति होती है।

"उसी विशेष तेजस्वी पुरुषसे (कालके अवयव और) सब गति होती है। परंतु इसको ऊपर, नीचे अथवा बीचमें सब प्रकारसे कोईभी जान नहीं सकता।"

इस द्वितीय मंत्रमें "निमेष*" शब्द आता है, जिसका अर्थ समयका हिस्सा है। हलचल, गति भी उसका एक अर्थ है। स्वभावसे जो आंखोंके पडदे उघडते ढंकते हैं, उस प्रकारकी गतिके लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है। इस आंखोंके पडदोंकी गतिसे काल गिना जाता है। इस लिये काल और गति ये दोनों साथ साथ रहते हैं। आंखोंके पडदोंका हिलना प्राण-जीवन-रहनेतक हि रहता है, इस लिये "नि-मेष" शब्द "प्राण, जीवन"का बोधक होता है। सब जीवन की कलाएं उसीसे प्रकट होती हैं। क्यों कि वह प्राणका भी प्राण है। इसी प्रकार विश्वकी सब गति उसीसे प्रेरित होती है।

तदेजति तन्नैजति ॥ यजु. ४०।५॥ ईशोपनिषद् ।५॥

"वह (एजति-एजयति) सबको हिलाता है, परंतु वह स्वयं नही हिलता।" यह ईशोपनिषद्का वचन यहां देखने योग्य है। यह परमात्मा सर्वत्र है, अग्नि आदि पदार्थोंमें उसीकी शक्ति कार्यकर रही है। सूर्यादि

---

* आंख खुलने और बंद होने का यहां तात्पर्य सृष्टिकी उत्पत्ति और विनाशसे है। आंख खुलनेका भाव सृष्टि उत्पत्तिकी प्रथम प्रेरणा है और आंख बंद होनेका तात्पर्य सृष्टिकी अंतिम अवस्था अर्थात् विनाश होना।

गोल उसीकी प्रेरणासें घूम रहे हैं। वायु उसीके जोरसे बहता है। इस प्रकार सर्वत्र उसकी शक्ति कार्यकर रही है, परंतु उसको पूर्णतासे कोई नहीं जानता। इस लिये कहा हैः—

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

यजु. ४०।४॥ ईशो. ४॥

"वह (अन्-एजत्) न हिलनेवाला (एकं) एक ईश्वर मनसेभी वेगवान् है। (एनत्) इस ईश्वरको (देवाः) इंद्रियां प्राप्त नहीं कर सकतीं, अर्थात् इंद्रियोंसे यह जाना नहीं जाता। यह (पूर्वं) प्राचीन, सनातन और (अर्षत्) प्रेरक है। वह दूसरे (धावतः) दौडनेवालोंसेभी (अति एति) अति दूर जाता है। और उसीमें रहनेवाला (*मातरि-श्वा) माताके गर्भमें रहनेवाला जीव अपने (अपः) कर्मोंको धारण करता है।"

देव शब्दके अन्य अर्थ "विजयकी इच्छा करनेवाले, व्यवहारचतुर, तेजस्वी, सुंदर, संचालक, विद्यावान लोक" है। इनसेभी ईश्वर जाना नहीं जाता। उसको जाननेके लिये विशेष प्रकारका जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस मंत्रमें आये हुए शब्दोंके अर्थः—

(१) वि-द्युत्—विशेष तेजस्वी।

(२) पुरुषः—(पुर्-उष्। पुर्-वस) शरीररूपी पुरीमें रहनेवाला जीवात्मा। तथा सब विश्वरूपी पुरीमें रहनेवाला परमात्मा।

अस्तु। इस प्रकार द्वितीय मंत्रका विचार करनेके पश्चात् तृतीय मंत्र देखीएः—

* इस शब्दके विवरणके लिये ईशोपनिषद् का स्वाध्याय देखीए।

मंत्र ३

(३) उसकी कोई प्रतिमा नहीं ।

"जिसका यश महान् है, उस एक ईश्वरके लिये कोई उपमा अथवा प्रतिमा नही । उसका वर्णन (१) हिरण्यगर्भ०, (२) मामा हिंसीत्०, (३) यस्मान्न जात० इन मंत्रोंसे हुआ है ।"

उस परमेश्वरकेलिये कोई उपमा नही, न उसकी कोई प्रतिमा है । उसका वर्णन जिन मंत्रोंसे होता है, उन मंत्रोंका अर्थ नीचे दिया है:—

(१) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः
पतिरेक आसीत् ॥ स दाधार पृथिवीं द्यामु-
तेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

ऋ. १०।१२१।१॥, यजु. १३।४॥,२३।१॥

"(हिरण्य-गर्भः) तेजस्वी पदार्थोंको अपने गर्भ-उदर-में धारण करनेवाला परमात्मा (अग्रे) सृष्टिके पहिलेभी (सं अवर्तत) था । वह (भूतस्य) उत्पन्न हुई सृष्टिका (एकः जातः पतिः) एकहि प्रसिद्ध स्वामी है । उसीनें पृथिवी और यह द्युलोक धारण किया है । उस (कस्मै देवाय) आनंदस्वरूप देवताके लिये (हविषा) आत्मार्पण द्वारा हम सब पूजा (विधेम) करते हैं । हविका अर्थ अर्पण अर्थात् जो दान अथवा त्याग किया जाता है । दानसे उसकी पूजा करनी है । अपने आपको उसके लिये पूर्णतया अर्पण करनाही उसकी पूजा है ।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा
जगतो बभूव ॥ य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

ऋ. १०।१२१।३॥ यजु. २३।३॥

"जो (प्राणतः) प्राण धारण करनेवाले (निमिषतः) हलचल करनेवाले (जगतः) जगतका (एकः राजा) एकहि सम्राट् (महित्वा)

अपनी महान शक्तिके कारण (बभूव) है, और जो द्विपाद और चतुष्पादोंका (ईशे) एक स्वामी है, उस आनंदस्वरूप देवताकी अर्पणद्वारा पूजा हम सब करते हैं।"

*यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ
रसया सहाहुः॥ यस्येमाः प्रदिशो यस्य
बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

ऋ. १०।१२१।४॥ यजु. २५।१२॥ तै. सं ४।१।८।४॥

"ये हिमवान पर्वत और (रसया) नदीके साथ समुद्र जिसकी (महित्वा) महान शक्ति बता रहें हैं, और इन दिशा उपदिशाओंमें जिसके बाहू रक्षणका कार्य कर रहें हैं, उस आनंदमय परमात्मा की पूजा आत्मार्पणद्वारा हम सब करें।"

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं
यस्य देवाः॥ यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

ऋ. १०।१२१।२। अथ. ४।२।१॥,१३।३।२४॥. यजु. २५।१३॥
तै. सं. ४।१।८।४॥,७।५।१७।१॥

"जो (आत्म-दा) आत्मिक शक्ति देनेवाला, (बल-दा) बल देनेवाला है, और जिसके (प्रशिषं) शासनका (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (उपासते) पालन करते हैं। जिसकी छायामें रहना अमरपन है और जिससे अलग होना मृत्यु है, उस आनंदमय परमात्माकी हम सब आत्मार्पणद्वारा पूजा करें॥" ज्ञानसे उसके आश्रयमें रहना हि मुक्ति है और उसकी पर्वाह न करके व्यवहार करना मृत्यु है।

(२) मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा
दिवꣳ सत्यधर्मा व्यानट्॥ यश्चापश्चंद्राः प्रथमो
जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

ऋ. १०।१२१।९॥, यजु. १२।१०२॥,३२।३॥
तै. सं. ४।२।७।१॥.

---

* अथर्ववेदका पाठ—०महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः। इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै० ॥ अथ. ४।२।५॥

"(यः सत्य-धर्मा) जो अटल नियमोंको धारण करता है, और जो (दिवं व्यानट्) द्युलोक को बनानेवाला है तथा जो पृथिवीका जनक है, वह (मा) मुझे (मा हिंसीत्) कष्ट न दे । (यः च प्रथमः) और जो सबसे पहिला देव (चंद्राः) आनंददायक पदार्थोंको तथा (आपः) जल आदि पदार्थोंको (जजान) बनाता है, उस आनंददायक देवकी आत्मार्पणसे पूजा हम सब करें ।"

"व्यानट्" शब्दका मूल अर्थ "व्यापता है" ऐसा है । परंतु शतपथ ब्राह्मणमें इसी मंत्रका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार किया है:—

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या इति । प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतत् । यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानड् इति । यो वा दिवं सत्यधर्माऽसृजतेत्येतत् । यश्चापश्चंद्राः प्रथमो जजानेति । मनुष्या वा आपश्चन्द्रा यो मनुष्यान् प्रथमो असृजतेत्येतत् । कस्मै देवाय हविषा विधेमेति । प्रजापतिर्वै कः । तस्मै हविषा विधेमेत्येतत् ॥ ६ ॥

शत. ७।३।१।२०॥

इसमें "व्यानट्" का अर्थ "असृजत" अर्थात् "उत्पन्न किया" ऐसा दिया है, और "आपः चंद्राः" का अर्थ "मनुष्य" ऐसा दिया है, क्योंकि मनुष्यहि आनंद लेनेवाले हैं। "कस्मै" का अर्थ "प्रजापति परमेश्वरके लिये" ऐसा यहां स्पष्ट कहा है । यही मंत्र ऋग्वेदमें थोडे पाठभेदसे आता है:—

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ॥ यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ. १०।१२१।९॥

उक्त यजुर्वेदके मंत्रके स्थानमें ऋग्वेदमें यह मंत्रपाठ है । "मा मा हिंसीत् ।" के स्थानपर "मा नो हिंसीत् (हम सबकी हिंसा न करे ।"

ऐसा पाठ है। तथा "सत्यधर्मा व्यानट्" के स्थानपर "सत्यधर्मा जजान" ऐसा पाठ है । प्रतीत होता है कि 'व्यानड्' का 'असृजत' ऐसा जो अर्थ शतपथके उक्त वचनमें है, उसका संबंध ऋग्वेदके पाठसे है। तीसरे चरणमें "बृहतीः (बडी)" शब्द 'चन्द्राः' का विशेषण है परंतु इसके स्थानपर यजुर्वेदमें "प्रथमः (पहिला)" शब्द 'सत्यधर्मा' ईश्वरका विशेषण है । इस प्रकार पाठभेदोंका विचार है। अब तीसरे प्रतीक का अर्थ देखीएः—

(३) यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश
भुवनानि विश्वा ॥ प्रजापतिः प्रजया सꣳरराण-
स्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥

यजु. ८।३६॥

"(यस्मात्) जिससे (परः अन्यः) दूसरा कोई भी बडा (न जातः) बना नहीं है, और जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजाओंका पालक (प्रजया संरराणः) प्रजाओंके साथ रमता और रहता हुआ, वह (षोड-शी) सोलह कलाओंसे युक्त ईश्वर (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों तेजोंको (सचते) धारण करता है।" इस मंत्रका उत्तरार्ध पूरा और पूर्वार्ध थोडे फरकसे यजुर्वेदके इसी ३२ अध्यायमें मंत्र ५ में आये हैं। इस लिये इनका विशेष विचार मंत्र ५ के विचारके समय करेंगें। अब इस प्रतीकका अगला मंत्र देखना हैः—

इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतु-
रग्र एतम् ॥ तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि
वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन
स्वाहा ॥

यजु. ८।३७॥ तै. ब्रा. ३।७।९।७॥

"इन्द्र सम्राट् है और वरुण मांडलिक राजा है। ये दोनों (ते एतं भक्षं) तेरा यह अन्न (अग्रे चक्रतुः) सबसे पहिले बनाते रहे। (अहं)

मैं (तयोः भक्षं) उनका अन्न (अनु भक्षयामि) उनके पश्चात् खाता हूं। (जुषाणा) सेवा की हुई (वाग्देवी) भगवती वाणी प्राणके साथ (सोमस्य) शांत पुरुषको तृप्त करे। (स्वा-हा) स्वार्थत्याग करें।"

इन्द्र बलका और वरुण वरिष्ठता अर्थात् श्रेष्ठता का प्रतिनिधि है। इस विश्वमें 'बल' सम्राट् है और 'श्रेष्ठत्व' उसके मांडलिक राजे हैं। प्रत्येक सद्गुणमें विशेष उन्नति साधन करना श्रेष्ठत्व का तात्पर्य है। बल और श्रेष्ठत्व ये दो राजे इस दुनियामें अन्न अर्थात् भोग प्राप्त कराते हैं। जो यह जानता है, वह भोग प्राप्त होने पर, उस भोग्यको प्रथम अपनी बल-वृद्धिके लिये और श्रेष्ठत्व रक्षण के लिये अर्पण करके, पीछेसे स्वयं भोगता है। अर्थात् बल और श्रेष्ठत्व को बढाता हुआ भोगोंको भोगता है। तथा वह पुरुष वाणीदेवीकी अर्थात् विद्यादेवीकी उपासना करके, अपने शांत स्वभावको सदा तृप्त रखता है। यह सब साध्य होनेके लिये बडे स्वार्थ-त्याग (अर्थात् खुदगर्जीको छोडने)की बडी आवश्यकता है।

इस प्रकार इन तीन प्रतीकोंके सात मंत्रोंका अर्थ है। (१) "हिरण्य-गर्भः, (२) मा मा हिंसीत्, (३) यस्मान्न जातः" ये तीन प्रतीक क्रमसे ४,१,२ मंत्रोंके सूचक हैं। अस्तु।

इस मंत्रमें कहा है कि "उसकी कोई प्रतिमा नहीं है।" इस के साथ निम्न अथर्ववेदके मंत्र देखने योग्य हैं:—

प्रतिमा, उपमा, और प्रतिमान।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः ॥

अथर्व. ८।९।६॥

"(वैश्वा-नरस्य) विश्वका नेता ईश्वरकी (प्रतिमा) प्रतिमा इतनी है, कि (यावत् द्यौः) जितना द्युलोक ऊपर है, और जितना (रोदसी) उपरले और नीचले आकाशमें (अग्निः) अग्निने (वि-बबाधे) अंतर बनाया है।" तथाः—

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ॥ यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥

ऋ. २।१२।९॥ अथर्व. २०।३४।९॥

"हे (जनासः) लोको! (यस्मात् ऋते) जिसको छोडकर (जनासः) लोक (न विजयन्ते) विजय को नहीं प्राप्त होते, और (युध्यमानाः) लढनेवाले (अवसे) रक्षणके लिये (यं हवंते) जिसकी प्रार्थना करते हैं। और जो विश्वकी प्रतिमा (बभूव) हो गया है और जो (अच्युत-च्युत्) स्वयं न हिलता हुआ दूसरोंको हिलाता है (स इन्द्रः) वह इन्द्र अर्थात् सब जगतका एक राजा है।"

इन दो मंत्रोंमें जगतके बराबर उस परमात्माका प्रतिमान है, ऐसा कहा है। विचार करनेसे पूर्व यह दोनों विधान परस्पर विसंगत प्रतीत होंगे, परंतु वास्तवमें इनमें कोई विरोध नहीं। "उसकी कोई प्रति–मा नहीं," ऐसा कहनेका तात्पर्य इतना है कि, उसके बराबर शक्तिशाली कोई नहीं। और इन मंत्रोंमें जो कहा है कि "उसकी प्रतिमा आकाशके अवकाशके बराबर है," इस कथनका तात्पर्य इतनाहि है कि, वह जगतमें सर्वव्यापक होनेसे जितनी आकाशकी व्याप्ति है, उतनी इसकी व्याप्ति है। ऊपरले मंत्रका "रोदसी" शब्द आकाशके दो अर्धोंका वाचक है। आकाशका एक अर्ध ऊपर है और दूसरा नीचे है। यह आकाश अनंत है। जिस प्रकार आकाशकी कोई हद्द नहीं, उसी प्रकार परमेश्वरकीभी कोई हद्द अर्थात् मर्यादा नहीं; यह बात उक्त दो मंत्रोंमें बताई है। यही आशय यजुर्वेदके निम्न मंत्रका है:—

ओ३म् खं ब्रह्म ॥ यजु० ४०।१७॥

"(ओं) सबका रक्षण करनेवाला ब्रह्म (खं) आकाशके समान सर्वत्र व्याप्त है।" इस मंत्रका भाव उक्त अथर्वके दो मंत्रोंके समान हि है। इस दृष्टिसे दोनोंका विरोध स्वयं हट जायगा।

इस विषयमें दूसरा भी एक विचार है। प्रति–मान शब्द "उलटा तोल" इस अर्थमें भी आता है। 'वादी-प्रतिवाद, अनुरोध-प्रतिरोध,' आदि

स्थानोंपर 'प्रति' का अर्थ 'उलटा' ऐसा है । वहि भाव 'मान-प्रतिमान' में लिया जा सकता है । (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) इस मंत्रका अर्थ 'जो इस विश्वका विरुद्ध-प्रमाण होता है' ऐसा होगा । इसका तात्पर्य निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगाः—

विश्वका मान	ईश्वरका प्रतिमान
१ विश्वमें विविधता है ।	१ परमात्मामें एकता और एक रसता है।
२ विश्वमें अल्पत्व है ।	२ परमात्मामें महानता है ।
३ विश्व जड है ।	३ परमात्मा चेतन है ।
४ विश्व कार्य है ।	४ परमात्मा कारण है ।
५ विश्व बनाया जाता है ।	५ परमात्मा स्वयं सिद्ध है ।
६ विश्व अज्ञानसे दर्शाया जाता है ।	६ परमात्मा ज्ञानसे दर्शाया जाता है।
७ विश्वपर आसक्ति रखनेसे बंधन ।	७ परमात्मापर भक्ति रखनेसे मुक्ति।

इस प्रकार कई गुणोंमें विश्वके बिलकुल विरुद्ध गुण परमात्मामें दिखाई देते हैं । इस हेतूसे कहा है कि "तूं विश्वके विरुद्ध अपना मान रखता है ।" और देखीएः—

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ऋ. १।५२।१३॥

"तूं पृथिवीके उलटा अपना प्रमाण रखता है ।" अर्थात् पृथ्वी छोटी है परंतु तूं बडा है । तथाः—

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

ऋ. १०।९०।१॥; आरण्य सं. ४।३॥; अथर्व. १९।६।१॥;
यजु० वा. सं. ३१।१॥; तै. आ. ३।१२।१॥;

"वह परमात्मा पृथिवी को (विश्वतः) चारों ओरसे (वृत्वा) घेरकर (दशांगुलं) दश अंगुलके समान छोटे विश्वके (अति अतिष्ठत्) बाहेर भी रहा है ।" इस मंत्रमें उक्त आशय बहुत स्पष्ट हो गया है । तथा और भी मंत्र देखीएः—

न हि न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वाः ॥
ऋ. ४।१८।४॥.

"(अस्य नु) निश्चयसे इसकी (जातेषु अन्तः) बने हुए पदार्थोंके अंदर (उत) और (ये जनित्वाः) जो बननेवाले हैं उनमें कोई (प्रतिमानं) तुलना, प्रतिमा या उपमा (न अस्ति) नहीं है।" तथाः—

प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे
महिमा पृथिव्याः । नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति
न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥
ऋ. ६।१८।१२॥

"(तुवि-द्यु-म्नस्य) अत्यंत तेजस्वी (स्थविरस्य) स्थिर और (घृष्वेः) दुष्टताको पीसनेवाले ईश्वरकी (महिमा) महानता द्युलोक और पृथिवीकी मर्यादाओंसेभी बाहर (ररप्शे) फैली है । (न अस्य शत्रुः) इस ईश्वरका कोई शत्रु नहीं (न अस्य प्रतिमानं) न इसकी कोई प्रतिमा है। (पुरु-मायस्य) अनंत ज्ञानवाले (सह्योः) और सहनशक्तिवाले बलवान ईश्वरको छोडकर और कोई (प्रतिष्ठिः) आश्रय (न) नहीं है । अर्थात् वही एक सबका आश्रय है।"

इस प्रकार प्रतिमा और प्रतिमान शब्दोंका प्रयोग वेदमंत्रोंमें आता है। इनके निम्न लिखित अर्थ होते हैं:—'प्रति-मा'-के अर्थ—बनानेवाला (creator); प्रतिमा; सादृश्य, उपमा, प्रतिबिंब; (measure) माप, तोल; फैलाव (extent); बराबर (equal to); 'प्रति-मान'–के अर्थ—नमूना (pattern); सादृश्य (like-ness); तोल, वजन, माप, प्रतिबिंब, उलटा; शत्रु (adversary) इन विविध अर्थोंको देख कर तथा मंत्रोंके संबंधको देख कर, उक्त मंत्रोंके अर्थोंका विचार करना चाहिए। एकहि शब्द दोनों प्रकारके अर्थोंमें कैसा प्रयुक्त किया जाता है, इसका उदाहरण इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। अस्तु। अब इस व्याख्यानमें आये हुए मंत्रोंके विशिष्ट शब्दोंके विशेष अर्थ देखने योग्य हैं:—

(१) हिरण्य-गर्भः—जिसके बीचमें तेजस्वी पदार्थ हैं । (हिरण्य) तेजस्वी पदार्थ, सूर्य आदि गोल (गर्भः) गर्भ अर्थात् बीचमें हैं जिसके ।

(२) सत्य-धर्मा—(सत्य) त्रिकालाबाधित, अटल (धर्मा) नियम रखनेवाला । जिसके नियम (Eternal laws) तीनों कालोंमें एकसे रहते हैं ।

(३) सम्राट्—सबका एक राजाधिराज ।

(४) वैश्वा-नरः—(विश्व) संपूर्ण सृष्टिका (नर) नेता, चलानेवाला ।

(५) अ-च्युत-च्युत्—जो स्वयं नहीं हिलता उसको अच्युत कहते हैं । च्युत् का अर्थ चलानेवाला । स्वयं स्थिर रहकर सब विश्वको घुमानेवाला ।

(६) ओम्—रक्षक ।

शब्दोंके ये अर्थ मनन करने योग्य हैं । इस प्रकार तीसरे मंत्रका विचार हुआ, अब चौथा मंत्र देखना है:—

मंत्र ४

(४) परमात्मा सर्व-व्यापक है ।

"परमात्मा सब दिशा उपदिशाओंमें व्यापक है । संपूर्ण जगत् बननेसे पूर्व वह विद्यमान था । वह सब पदार्थोंके बीचमें व्यापक है । वह जैसा इस समय सर्वत्र उपस्थित है, वैसा आगेभी रहेगा । वह सब प्रकारसे मुख आदि शक्तियोंको धारण करता हुआ, प्रत्येक पदार्थमें व्यापक होकर रहता है ।"

यह आशय चतुर्थ मंत्रका है । "सर्वतो मुखः" शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं (१) सब स्थानमें जिसका मुख है; मुख आदि अवयवोंकीं शक्तियां जिसकीं सर्वत्र विद्यमान हैं । (२) सब प्रकारोंसे जो मुख्य है; जिसकी मुख्यता सब प्रकारोंसे देखने परभी सिद्ध होती है ।

अथर्वशिरस् उपनिषद्में इसी मंत्रका "एको ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः ।" ऐसा पाठ है । 'एक हि देव सब दिशाओंमें भरा है' आदि

उसका अर्थ है। यहां परमात्माका वर्णन है, परंतु इन्ही शब्दोंसे अथर्व-वेदके एक मंत्रमें जीवात्माका वर्णन आया है:—

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः॥ एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥

अथर्व. १०।८।२८॥

"कईयोंका पिता, कईयोंका पुत्र, कईयोंका बडा भाई और कईयोंका छोटा भाई, ऐसा एक देव [जीवात्मा] मनमें प्रविष्ट होकर, जो (प्रथमः जातः) पहिले जन्मा था (स उ) वह ही फिर (गर्भे अंतः) गर्भके अंदर आता है।" इस मंत्रकी द्वितीय पंक्ति अपने चतुर्थ मंत्रके प्रथम पंक्ति के बराबर है। परंतु एकमें परमात्माका वर्णन और दूसरेमें जीवात्माका वर्णन होनेसे, जो अर्थकी भिन्नता हो गई है, उसकी ओर पाठकोंको विशेष ध्यान देना चाहिए। सदृश शब्दरचना रहनेपर भी पूर्वापर संबंधसे अर्थ किस प्रकार बदलते हैं, इसका यह उत्तम उदाहरण है। अस्तु। अब ईश्वरका वर्णन करनेवाला अथर्ववेदका मंत्र देखीए:—

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्॥ स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु॥

अथर्व. ७।२१।१॥

"(विश्वे) सब लोक (वचसा) शुद्ध वाणीसे (दिवः पतिं) द्युलोक के स्वामी ईश्वरके पास (सं एत) एक होकर जावें। क्यों कि (विभूः) सर्वत्र व्यापक होनेसे वह (एकः) एक ईश्वर (जनानां अतिथिः) सब लोकोंको सत्कार करने योग्य है। वह (पूर्व्यः) प्राचीन होता हुआ (नूतनं) इस नवीन जगतको (आ-वि-वासत्) बसाता है। (तं एकं) उसी एककी ओर (वर्तनिः) सब मार्ग (अनु वावृत) जा रहा है, कि जो मार्ग (पुरु) सबको (इत्) निश्चयसे चलना है।" तथा:—

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः॥ यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥

ऋ. ६।२२।१॥; अथर्व. २०।३६।१॥;

(चर्षणीनां हव्यः) सब मनुष्योंको पूजा करने योग्य जो (एकः) एक ईश्वर है (तं इंद्रं) उस परमैश्वर्ययुक्त देवताकी (आभिः गीर्भिः) इन सूक्तों द्वारा (अभि अर्च्य) पूजा करो। यह (वृषभः) बलवान् (वृष्ण्यावान्) सिद्धियोंसे युक्त (सत्यः) अटल, (पुरु-मायः) अनंत-ज्ञानवान (सहस्-वान्) सहन शक्तिसे युक्त ईश्वर (सत्वा पत्यते) विविध शक्तियोंको प्राप्त कराता है।"

इस प्रकार वेदके अन्य स्थानोंमें उसी एक ईश्वरका वर्णन है। इन मंत्रोंका इस चतुर्थ मंत्रके साथ विचार करना उचित है। यहां चतुर्थ मंत्रका विचार समाप्त हुआ, अब पंचम मंत्र देखना है:—

मंत्र ५

(५) परमेश्वरके तीन तेज और सोलह कलाएं।

"जिसके पूर्व कुच्छभी नहीं बनाथा, परंतु जिसने सब कुच्छ बनाया है, ऐसा जो सोलह कलाओं और तीन तेजोंका धारण करनेवाला परमात्मा है, वह प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाओंका सच्चा पालक है।"

यह आशय पंचम मंत्रका है। इसी मंत्रके अन्य पाठभेदोंका यहां प्रथम विचार करना चाहिए:—

> यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥ प्रजा*पतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
>
> यजु. ८।३६॥

---

* प्रजापतिः प्रजया संरराणः। प्रजापालक राजाको प्रजाके साथ मिलकर रहना चाहिए। यह उपदेश इस वाक्यसे मिलता है। जो प्रजाके साथ मिलकर रहता है, वह सच्चा प्रजापति होसकता है।

"जिससे बडा अन्य कोईभी नहीं है, और जो सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है, वह प्रजापालक परमात्मा अपनी प्रजाओंके साथ रमता हुआ, सोलह कलाएं और तीन तेजोंका धारण करता है।" इसका अर्थ मंत्र ३ के स्पष्टीकरण में पहिले दिया है। तैत्तिरीयारण्यकमें:—

यस्मान्नान्यो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥

तै. आ. १०।१०।३॥ महा. ना. उ. १०।४॥

"जिससे दूसरा और जिससे बडा कोईभी नहीं।" तथा:—

यस्माज्जाता न परा नैव किंचनास ॥ तै. आ. १०।१०।२॥
यस्माज्जातो न परो अन्यो अस्ति ॥ जैमिनी. ब्रा. १।२०५॥;
यस्मादन्यन्नपरं किंचनास्ति ॥ वैतान सू. २५।१२॥
यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातः ॥ पंचविंश ब्रा. १२।१३।३२॥.
यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥ अथर्व. १०।७।३१॥.

इस प्रकार एकहि अर्थ बतानेवाले पाठभेद अनेक हैं। दूसरे चरणके पाठभेद निम्न प्रकार हैं:—

य आबभूव भुवनानि विश्वा ॥ पंचविं. ब्रा. १२।१३।३२॥.
य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥ यजु. ८।३६॥; काठक सं. ४०।३॥; तै. ब्रा. ३।७।९।५॥; तै. आ. १०।१०।२॥; आप. श्रौ. १४।२।१३॥, १६।३५।१॥; महा. ना. उ. ९।४॥. नृसिं. पू. उ. २।४॥

तीसरे चरणके सदृश अथर्व वेदमें एक पाठ है:—

विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ अथर्व. २।३४।३॥

यहां 'विश्व–कर्मा' शब्दका 'प्रजा–पति' शब्दके साथ संबंध देखनेसे दोनों शब्दोंके अर्थोंका निश्चय हो सकता है। तथा:—

त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ यजु. ३२।५॥, ८।३६॥.
त्रीणि ज्योतींषि दधते स षोडशी ॥ वैतान सू. २५।१२॥.
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोळशी ॥ काण्व यजु. ८।११।१, ३२।५॥.

इस प्रकार इस मंत्रके पाठभेद हैं। प्रायः सब पाठभेद एकहि मूल मंत्रके अर्थको विशेष खोल कर स्पष्ट कर रहे हैं, यह बात यहां स्पष्ट होती है। पाठभेदोंको देखनेसे मूल मंत्रके अर्थका विशेष प्रकारसे निश्चय होता है। इस लिये अनेक शाखाओंके भिन्न भिन्न पाठभेद अवश्य देख कर अर्थकी संगति लगानेका प्रयत्न करना चाहिए। वेदके अर्थज्ञान के लिये आधुनिक कोशोंकी अपेक्षा प्राचीन शाखाओंके पाठभेद अधिक सहायक हैं।

तीन ज्योति और सोलह कलाएं।

इस मंत्रमें तीन ज्योति और सोलह कलाओंका वर्णन है। इस लिये यहां परमात्मा के धारण किये हुए तीन तेजोंका विचार करना चाहिए। निरुक्तमें कहा है कि, (१) पृथिवीपर अग्नि, (२) अंतरिक्षमें विद्युत, और (३) द्युलोकमें सूर्य ये तीन तेज हैं। इन तीन तेजोंके विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैः—

> अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ॥
> सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥
>
> अथ. १०।७।४०॥

"(तस्य तमः) उसका अज्ञान (अप हतं) नष्ट हुआ। (सः) वह (पाप्मना) पापसे (व्यावृत्तः) छुट गया। (यानि प्रजापतौ) जो परमात्मामें रहते हैं वे (त्रीणि ज्योतींषि) तीन तेज (तस्मिन्) उसमें चमकने लगे हैं।" इस मंत्रमें कहा है कि, जब अज्ञान नष्ट होता है, और पापकी भावना दूर होती है, तब परमेश्वरके तीनों तेज उस पुरुषमें चमकने लगते हैं। इस मंत्रसे तीन तेजोंकी कल्पना हो सकती है। जो मनुष्यके अंदरभी चमक सकते हैं, वैसे तीन तेज होने चाहिए। अब और एक मंत्र देखीएः—

> पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ॥ ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥
>
> अथर्व. ९।५।८॥

पंचौदन पांच प्रकारसे (वि-क्रमतां) पराक्रम करे। (त्रीणि ज्योतींषि) तीनों तेजोंपर (आ-क्रंस्यमानः) आक्रमण करता हुआ (ईजानानां सुकृतां) यज्ञ करनेवाले सत्कर्मी लोकोंके (मध्यं प्रेहि) बीचमें जाओ और (तृतीये नाके) तीसरे स्वर्गमें (अधि विश्रयस्व) आश्रय करो।" इस मंत्रमें कहा है कि, पंचौदन अज पांच प्रकारका पराक्रम करता हुआ, तीनों तेजोंको अपने स्वाधीन करके, सत्कर्मी लोकोंके बीचमें प्राप्त होकर, तीसरे स्वर्गमें पहुंचता है।

यहां पंचौदन शब्दसे पंचज्ञानेंद्रियोंकी पांच शक्तियां साथ रखनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा विवक्षित है। पंचज्ञानेंद्रियोंके साथ रहता हुआ उनसे पांच प्रकारका प्रयत्न करनेवाला जीवात्मा तीन तेजोंको अपने आधीन करता है। पश्चात सत्कार-संगति दानात्मक शुभ कर्म करनेवाले लोकोंके श्रेणीमें सुशोभित होता हुआ सुखतम अवस्थाको प्राप्त होता है।

सुखमय लोक...	... १ ला स्वर्ग...	... शारीरिक सुख ...	सत्
सुखतर ,,...	... २ रा स्वर्ग...	... मानसिक विवेक...	चित्
सुखतम ,,...	... ३ रा स्वर्ग...	... आत्मिक तेज ...	आनंद

उक्त कोष्टकसे तीसरे स्वर्गकी कल्पना हो सकती है। इस मंत्रसेभी यह स्पष्ट हुआ कि, परमेश्वरके तीनों तेज मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इन मंत्रोंका विचार करनेसे प्रतीत होता है कि, अग्नि-विद्युत्-सूर्य की अपेक्षा कोई विलक्षण तीन तेज हैं, कि जिनको परमात्मा धारण करता है। इस लिये उनका अब निश्चय करना चाहिए।

परमात्माके तीन तेज जीवात्मा धारण करके अपने आपको कृतकृत्य समझता है। इन तेजोंकी विशेषता देखनेके लिये प्रथम मनुष्यमें अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा जो अधिकता है, उसका विचार करना चाहिए। वाचा-शक्ति, मननशक्ति और ज्ञानशक्ति ये तीन शक्तीयां मनुष्यमें विशेष हैं, कि जो अन्य प्राणियोंमें नहीं। अथवा किसी अवस्थामें अन्य प्राणियोंमें होंगीं तो भी उनका उपयोग आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक उन्नति-योंमें करनेकी शक्ति उनमें न होनेसे, वे शक्तियां न होनेके बराबर हि

वहां रहती हैं। उदाहरणके लिये वाणीकी शक्ति देखीए। मनुष्येतर प्राणियोंमें शब्द करनेकी शक्ति है, परंतु जिस प्रकार मनुष्य अपनी वाणीका उपयोग अपनी सार्वजनिक उन्नतिके लिये कर सकते हैं, वैसा पशुपक्षी नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए। तात्पर्य मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियोंमें इन तीन शक्तियोंकाहि भेद है, जो मनुष्योंको मुक्तिके अर्थात् स्वतंत्रताके योग्य बनाता है। इस लिये मनुष्यके पास यही तीन तेज हैं, जो इसको परमेश्वरसे प्राप्त हुए हैं। अब देखीए:—

जीवात्मा	वचन	मनन	ज्ञान	आध्यात्मिक
	वाक्शक्ति	विचारशक्ति	ज्ञानशक्ति	
	सुभाषण	सुविचार	संज्ञान	
परमात्मा	अग्नि	विद्युत्	सूर्य	आधिदैविक
	नित्यशब्द	महत्तत्व	सत्यज्ञान	
	सच्छक्ति	चितिशक्ति	नित्यतृप्ति-आनंद	

इस कोष्टकसे पता लगेगा कि, परमात्माके तीन तेज किस स्वरूपमें जीवात्मामें आते हैं। इस प्रकार तीन तेजोंका विचार होनेके पश्चात् सोलह कलाओंका विचार करेंगे:—

प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ६।४ में सोलह कलाओंका वर्णन आया है:—

> स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम् ॥ मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥
>
> प्रश्नोपनिषद् प्र. ६

"प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम ये सोलह कलाएं हैं।" परंतु ये सोलह कलाएं परमात्माकी हैं या नहीं इसमें थोडासा संदेह हो सकता है। श्रद्धा, इन्द्रिय, अन्न आदि कई कलाएं जीवात्माके साथ अधिक

संबंध रखनेवाली हैं। इस लिये इनका और भी विचार करना चाहिए। ग्रंथांतरमें कहा है:—

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ॥
शशिनी चंद्रिका कांतिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरेव च ॥
अंगदा च तथा पूर्णाऽमृता षोडश वै कलाः ॥

"१ अ-मृता-अमरपन, २ मान-दा-परिमाणदातृत्व, ३ पूषा-पोषकत्व, ४ तुष्टिः-संतोष, ५ पुष्टिः-पुष्टता, ६ रतिः-रममाण होना, ७ धृतिः-धैर्य, ८ शशिनी-गतिदातृत्व, ९ चंद्रिका-आल्हाद, १० कांतिः-सौंदर्य, ११ ज्योत्स्ना-शांतियुक्त तेज, १२ श्रीः-शोभा, १३ प्रीतिः-प्रेम, १४ अंग-दा-शरीरदातृत्व, १५ पूर्णा-पूर्णत्व, १६ पूर्णाऽमृता-आनंदमयता" ये सोलह कलाएं हैं।

मान-दा का अर्थ इतनाही है, कि दूसरोंको परिमाण देनेकी शक्ति, अर्थात् स्वयं अपरिमित रहनेपर दूसरोंको परिमित बनानेकी शक्ति। 'शश्-द्रुतगतौ' से शशिनी शब्द बना है, इसलिये इसका अर्थ त्वरायुक्त गति उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। प्रेमके नेत्रोंसे सबको देखना, सबका मित्र बनकर रहना प्रीतिका तात्पर्य है। स्वयं निराकार होनेपर भी दूसरोंको साकार बनानेका सामर्थ्य अंग-दासे व्यक्त होता है। सर्वत्र परिपूर्ण रहना पूर्णाशब्दसे व्यक्त होता है। परम आनंदस्वरूपका बोध पूर्णाऽमृत शब्दसे व्यक्त होता है। इस प्रकार सोलह कलाओंका स्वरूप अन्य ग्रंथोंमें वर्णन किया है। चंद्रके कलाओंके येहि नाम हैं। परंतु चंद्रके कलाओंमें पूर्ण अर्थ के साथ ये शब्द नहीं घट सकते। परमेश्वरमेंहि इनका अर्थ पूर्णताके साथ लग सकता है। अब सोलह मातृकाओंका वर्णन देखीए:—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ॥
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥
शांतिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिः कुलदेवात्मदेवताः ॥

१ "गौरी-शुद्धता, पवित्रता, २ पद्मा-सौंदर्य, ३ शची-शक्ति, बल, ४ मेधा-बुद्धि, ज्ञानशक्ति, ५ साविश्री-तेज, ६ विजया-विजय, ७ जया-

जय, ८ देवसेना–दिव्य गुणसमूह, शत्रुनिरोधक शक्ति, ९ स्वधा–अपनी धारणाशक्ति, १० स्वाहा–त्यागशक्ति, ११ शांतिः–शांतता, १२ पुष्टिः–पोषकता, १३ धृतिः–धैर्य, १४ स्तुतिः–स्तुत्यता, १५ कुलदेवता–संपूर्ण विश्वका एक प्रभुत्व, १६ आत्मदेवता–आत्माकी दिव्यशक्ति ।" ये सोलह माताएं हैं । ये सब सृष्टिका धारणपोषण करनेवाली माताएं हैं ।

विजय और जय में इतनाही भेद है कि, एक अपने आपका जय अर्थात् निग्रह है और दूसरा सब बाह्य जगतको जीतना है । देवसेना का कार्य इतनाहि है कि, सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका शासन करनेका कार्य करना; उत्तमताका संरक्षण और दुष्टताका नाश करना । स्व-धा उसको कहते हैं कि, जिस शक्तिसे अपने आपका धारण होता है; विना दूसरेके सहारेके अपनी शक्तिसे हि स्वयं परिपूर्ण रहना । स्वा-हा उसको कहते हैं कि, जो निरपेक्ष त्याग होता है; दूसरोंकी भलाईके लिये अपने सर्वस्वका त्याग करके सबकी उन्नतिके लिये यत्न करना । अपने खानदान के लिये कुल शब्द छोटे अर्थमें लगता है, विस्तृत अर्थमें सब जगतके लिये हो सकता है; जैसा कुटुंब शब्द अपने परिवारके लिये छोटे अर्थमें लगता है, परंतु संन्यासीका कुटुंब सब पृथ्वी है, जिसको 'वसुधैव-कुटुंबक-वृत्ति' कहते हैं । इस प्रकार व्यापक अर्थसे कुल शब्द यहां लेना है । सब संसारकी एक देवता कुलदेवता शब्दसे यहां लेनी उचित है । आत्म-देवतासे आत्माकी शक्ति लेनी है । इस प्रकार इन सोलह माताओंका विचार है । परमात्माको जगत्की *माता कहा जाता है, इसलिये ये सोलह मातृवाचक शब्द उस जगन्माता के गुण दर्शाते हैं, ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा ।

यहां तक जो तीन गण आये हैं; उनकी परस्पर संगति हो सकती है या नहीं, इसका विचार करनेके लिये निम्न कोष्टक तैयार किया है:—

* "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ॥ अधा ते सुम्न-मीमहे ॥" ऋ. ८।९८।११॥, अथर्व. २०।१०८।२॥, साम. २।५२०॥ (हे शत-क्रतो वसो परमात्मन् । तू हम सबका पिता और माता है । इस लिये आपसेहि कल्याणकी प्रार्थना करते है ।)

(१६ षोडश मातृका).	(१६ कला).	(१६ कला-उपनि.).
१ गौरी (Purity)	शशिनी(movement)	आ-काश (light)
२ पद्मा (Beauty)	अंग-दा (Body-making)	जल (water, germinal fluid)
३ शची (Power)	पूषा (Nourisher)	अन्न(food, nourishment)
४ मेधा (Intellect)	अ-मृता (Immortal)	मन (mind, thinking power)
५ सावित्री (Lustre)	ज्योत्स्ना (Light)	अग्निः (Fire, heat)
६ विजया(Victory)	मान-दा (respect)	तपः (voluntary suffering)
७ जया (triumph)	तुष्टि (contentment)	इंद्रिय (organic, organ)
८ देवसेना (Unity)	कांति (loveliness)	वायु (Air, gas, motion)
९ स्व-धा (Self support)	रति (joy)	प्राण (Life)
१० स्वा-हा (Self-sacrifice)	प्रीति (friendliness)	कर्म (work, action)
११ शांति (Tranquillity)	चंद्रिका (de-light)	नाम (Name, fame)
१२ पुष्टि (nourishment)	पुष्टि (growth)	पृथिवी(Earth, support)
१३ धृति (courage)	धृति (courage)	वीर्य (valour)
१४ स्तुति (Good words)	श्री (prosperity)	मंत्र (Sacred text)
१५ कुलदेवता (Lord of all or sovereignty)	पूर्णा(completeness)	लोक (Space)
१६ आत्मदेवता(Soul)	पूर्णाऽमृता (complete [illegible]	श्रद्धा (Devotion)

उक्त शब्दोंका परस्पर संबंध—परमात्म देव पूर्ण अमृतका दाता होनेसे श्रद्धाकेलिये योग्य है । सब लोकलोकांतरोंमें जो पूर्ण अर्थात् व्यापक है, वह ही सबका कुलदेव हो सकता है । मंत्रोंसे उस ईश्वरकी श्री अर्थात् शोभाकी स्तुति करनी है । वीर्यसे धैर्य की धारणा होती है । पृथ्वीसे सबकी पुष्टि होती है । शांतीसे नाम अर्थात् कीर्ति और आल्हाद होता है । स्वार्थत्याग (स्वा-हा) युक्त कर्म सबपर मित्रकी प्रेम दृष्टि रखकर किये जाते हैं । प्राणसेहि रति अर्थात् रममाण होना और स्व-धा अर्थात् अपनी धारणा होती है । वायुका नाम मरुत् और मरुतोंके गण हि देवोंकी सेना है, देवसेना तेजस्वी होती है । इंद्रियोंके निग्रहसे तुष्टि और जय होता है । तप अर्थात् सहनशक्तिसे विजय और सन्मान प्राप्त होता है । सविता-सूर्यके तेजसेहि चंद्रप्रभा और अग्निका तेज उत्पन्न होता है । मेधा अर्थात् धारणा युक्त बुद्धिसे मनका और अमृत-ज्ञानका संबंध सनातन है । अन्नसे पोषण और शक्ति होती है । जलसे पद्म अर्थात् कमलोंकी उत्पत्ति और सब प्राणियोंके अंगोंकी उत्पत्ति होती है । आकाशमें गति और शुद्धता अथवा गौर तेज होना संभव है ।

इस प्रकार इनका परस्पर संबंध दिखाई देता है कईयोंका संबंध स्पष्ट है, परंतु कईयोंमें बडी दूरसे देखना पडता है । पाठकोंको सोचना चाहिए और निश्चय करना चाहिए, कि किस शब्दका किस शब्दके साथ संबंध है । कई शब्दोंके विषयमें अब तक मुझे संदेह है । अस्तु । इन शब्दोंका परस्पर संबंध देखनेसे ईश्वरके १६ कलाओंकी कल्पना हो सकती है ।

सोलह कलाओंके विषयमें वेदोंमें किसीस्थानपर वर्णन देखनेमें नहीं आया, परंतु षोडशी शब्दका प्रयोग निम्न प्रकार बहुत थोडे स्थानपर आया है:—

(१) उपयाम गृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन इन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ यजु. ८।३३–३५ ॥

(२) इन्द्रो वज्र-हस्त षोडशी शर्म यच्छतु ॥ हन्तु पाप्मानं योऽस्मान् द्वेष्टि ॥ यजु. २७।१०॥

"(१) नियम उपनियमोंके अनुसार चलनेवाले सोलह कलाओंसे युक्त इन्द्र अर्थात् परमेश्वरके लिये स्तुति है। (२) वज्रधारण करनेवाला सोलह कलाओंसे युक्त इन्द्र सुख प्रदान करे। जो अकेला हम सबका द्वेष करता है उस पापीका नाश करे।"

इस प्रकारके वर्णन आते हैं, परंतु ये सोलह कलाएं हैं, ऐसा वर्णन किसी स्थानपर नहीं है। कदाचित् निम्न लिखित अथर्व वेदके मंत्र ईश्वरके सोलह कलाओंके निदर्शक होंगेः—

शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति, त्वो पास्महे वयम् ॥ अंभो अमो महः सह इति, त्वोपास्महे वयम् ॥ अंभो अरुणं रजतं रजः सह इति, त्वोपा० ॥ उरुः पृथु सुभू-र्भुव इति, त्वोपास्महे वयम् ॥ प्रथो वरो व्यचो लोक इति, त्वोपास्महे वयम् ॥ भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति, त्वोपा० ॥

अथर्व. १३।४।४७–५४॥

"(१) शच्याः पतिः, (२) विभूः, (३) प्रभूः, (४) अंभः, (५) अमः, (६) महः सहः, (७) अरुणं रजतं रजः, (८) उरुः पृथुः, (९) सुभूः, (१०) भुवः, (११) प्रथो वरः, (१२) व्यचो लोकः, (१३) भवद्वसुः, (१४) इदद्वसुः, (१५) संयद्वसुः, (१६) आयद्वसुः इन सोलह गुणोंसे युक्त रहनेवाले (त्वा) तेरी, हे इन्द्र, (वयं) हम सब (उपास्महे) उपासना करते हैं।" इन शब्दोंके अर्थः—

(१) शच्याः पतिः–शक्तिका पालक, सर्वशक्तिमान्। (Almighty).
(२) विभूः—व्यापक। (Omnipresent).
(३) प्रभूः—स्वामी। (Lord).
(४) अंभः—जलके समान शांत और एक रस। शब्दप्रवर्तक। (Word).
(५) अमः—गतिउत्पादक और शब्दप्रेरक। (Movement).
(६) महः सहः—महान् सहनशक्तिसे युक्त। (Victorious).

(७) अरुणं रजतं रजः—तेजस्वी, प्रेम करने योग्य, ऐश्वर्ययुक्त। (Light).

(८) उरुः पृथुः—अत्यंत विस्तृत। अत्यंत फैला हुआ। (Great).

(९) सुभूः—जो अत्यंत उत्तम है। (Excellent).

(१०) भुवः—जो ज्ञान स्वरूप है। (भुवो अवकल्पने चिंतने च) (Knowledge).

(११) प्रथो वरः—प्रसिद्ध श्रेष्ठ। (Supreme).

(१२) व्यचो लोकः—व्यापक तेजस्वी। (Pervading light).

(१३) भवद्वसुः—जिसके पास ऐश्वर्य है। (Glorious).

(१४) इदद्वसुः—अपूर्व धनसे युक्त। (Bountiful).

(१५) संयत्-वसुः—जिसने अपने शक्तियोंका संयम किया है। (Controller of wealth).

(१६) आयद्-वसुः—जिसने अपनीं शक्तियां फैलाई हैं। (One who is always with prosperity).

इस प्रकार वेदके कहे हुए गुण हैं। परंतु इनमें प्रत्येक शब्दको अलग अलग मान कर बाईस गुणोंकी कल्पना भी की जा सकती है। लिइस ये इस विषयमें संशोधनकी आवश्यकता है। स्वाध्यायशील पाठकोंको उचित है कि वे इस विषयसें अधिक विचार करके निश्चय करें।

अस्तु इस प्रकार पंचम मंत्रका विचार करनेके पश्चात् अगला मंत्र देखेंगे:—

मंत्र ६–७

(६) सबका निर्माण और धारण कर्ता ईश्वर।

"जिसने द्युलोक, अंतरिक्ष लोक और भूलोक तथा इस त्रिलोकीमें सब पदार्थ निर्माण किये हैं; उस आनंदस्वरूप परमात्माकी उपासना हम सबको करनी चाहिए ॥ ६ ॥"

"जिस परमात्माके बनाये और स्थिर किये हुए ये सब लोकलोकांतर हैं, और जिसमें सूर्यादि तेजस्वी गोल चमक रहे हैं, उस आनंदमय परमात्माकीहि हम सबको उपासना करनी चाहिए॥ ७॥" यह इन दो मंत्रोंका सारांश है। इन दो मंत्रोंको थोडे पाठभेदसे हम अथर्ववेदमें देखते हैं:—

> यं क्रंदसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्॥ यस्याऽसौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥ यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्माद् उर्वन्तरिक्षम्॥ यस्याऽसौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥
>
> अथर्व. ४।२।३-४॥

"जिस आत्माके बलसे द्युलोक और पृथिवी (चस्कभाने) स्थिर रही हुई, परंतु जिससे (भिय-साने) डरनेवाली (अह्वयेथां) प्रार्थना कर रही है; और जिसका यह (पन्था) मार्ग (रजसः) अंतरिक्षस्थ सब लोकोंको मिन रहा है, उस आनंद स्वरूप की हम सबको उपासना करनी चाहिए॥ जिसका द्युलोक बडा और पृथ्वी महान् है तथा अंतरिक्ष बडा विस्तृत है जिसकी (महित्वा) महिमासे यह सूर्य अपनी प्रभा (वि-ततः) फैलाता है, उस आनंदरूप परमात्माकीहि हम सबको उपासना करनी चाहिए।"

इन अथर्व-वेदके मंत्रोंमें पाठक देखेंगे कि, पहिला अर्ध और दूसरा अर्ध यजुर्वेदके क्रमसे नहीं हैं। एक मंत्रका पूर्वार्ध और दूसरे मंत्रका उत्तरार्ध मिलकर अथर्व-वेदके ये मंत्र बने हैं। और साथ साथ पाठभेद भी हैं।

यजुर्वेदके पाठ	अथर्ववेदके पाठ
येन द्यौ रुग्रा।	... ...यस्य द्यौ रुर्वी।
पृथिवी च दृढा।	... ... पृथिवी च मही।

येन नाकः ।... ... ... यस्माद् उर्वन्तरिक्षम् ।
यो अंतरिक्षे रजसो विमानः । ... यस्याऽसौ पन्था रजसो विमानः ।
अवसा तस्तभाने ।... ... ... अवतश्चस्कभाने ।
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने । ... भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति । ... यस्यासौ सूरो विततो महित्वा ।

ऋग्वेदके और यजुर्वेदके पाठ प्रायः एकसेहि हैं । अथर्ववेदके कई पाठ उसी अर्थको विस्तृत करनेवाले और कई स्वतंत्र रीतीसे अर्थगौरव करनेवाले हैं। इस प्रकार सब पाठभेदोंको एकत्रित करके अर्थका विचार करना चाहिए ।

इन मंत्रोंके भाव स्पष्ट हैं, इसलिये विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं । अब इस मंत्रमें आये हुए 'आपो ह यद्बृहतीः' और 'यश्चिदापः' इन दो प्रतीकोंसे सूचित दो मंत्रोंका अर्थ देखना चाहिएः—

(१) आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ॥ ततो देवानाᳬ समवर्तताऽसुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ. १०।१२१।७॥ यजु. अ. २७।२५॥ काण्व. २९।३४॥

(अग्निं गर्भं दधानाः) अग्निसूर्यादि तेजोंको गर्भवत् धारण करनेवाली और (विश्वं जनयन्तीः) संपूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाली (ह) निश्चयसे (यत्) जो (बृहतीः आपः) महान मूल प्रकृति है । वह (आयन्) चल रही है अर्थात् गतियुक्त है, (ततः) उस से भिन्न (देवानां एकः असुः) सब देवताओंका एक प्राणरूप परमात्मा (सं-अवर्तत) उत्तमतासे है । उसीकी हम सब आत्मार्पणद्वारा पूजा करें ।

(२) यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ॥ यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु. २७।२६॥

(यज्ञं जनयन्तीः) जगद्रूपी यज्ञको उत्पन्न करनेवाली और (दक्षं दधाना) बल धारण करनेवाली (आपः) मूल प्रकृतिका (चित् यः महिना पर्यपश्यत्) निश्चयसे जो अपनी महानताके साथ निरीक्षण करता है। (यः देवेषु एकः अधिदेवः आसीत्) जो सब देवताओंमें एक हि अधिदेव अर्थात् सबका अधिराज है, उसीकी हम सब आत्मार्पणद्वारा पूजा करें।

इन दो मंत्रोंमें 'आपः' शब्दसे प्रकृतिका बोध लेना है। जैसा कि उपनिषदोंमें भी लिया है:—

आपो ह वा इदमग्र आसुः॥ बृह. उप. ५।५।१॥

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास॥ शत. ब्रा. ११।१।६।१॥

"सृष्टि उत्पत्तिके पूर्व यह सब 'आप्' था।" सृष्टि उत्पन्न होनेके पश्चात् जल-उदक-उत्पन्न हुआ है। इसलिये उक्त वचनोंमें "आप्"का अर्थ जल नहीं। विकृत सृष्टिके पूर्व अ-विकृत प्रकृति सर्वत्र फैली हुई परमाणु अवस्थामें थी। जैसा पानी समुद्रमें फैला हुआ रहता है, उस प्रकार आकाशमें प्रकृति-परमाणुरूपी जल फैला हुआ था। इस अर्थमें 'आप्' शब्दका प्रयोग उक्त मंत्रोंमें आया है। 'आप्' शब्दका अर्थ 'व्यापक' है। मनुस्मृतिमें भी 'आप्' शब्द इसी प्रकृतिके अर्थमें आता है:—

आपो नारा इति प्रोक्ता नारा वै नर-सूनवः॥

मनु.

'नर परमात्मा है। वससे प्रेरित हुए हुए नार अर्थात् ईशप्रेरित (आपः) प्रकृति-परमाणु होते हैं।" इसीसे आगे जाकर सृष्टि बनती है। अस्तु। आप् शब्दका यह अर्थ विशेष स्मरण रखना चाहिए।

(१) सूर्यादि तेजो गोलोंको उत्पन्न करना अथवा गर्भमें धारण करना, (२) सब जगत् को उत्पन्न करना, (३) विस्तृत होकर रहना, (४) गतियुक्त रहना, (५) एक प्रकारका बल धारण करना, इत्यादि प्रकृतिके गुण उक्त मंत्रमें वर्णन किये हैं। यहां शंका उत्पन्न होती है कि, क्या यह सब स्वयं प्रकृति हि कर सकती है? इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये कहा

है कि, (१) महान परमेश्वर इस प्रकृतिका निरीक्षक, अधिष्ठाता है, (२) वह सबका राजाधिराज है, (३) वह निश्चयसे एकहि है। अर्थात् इसी की इच्छासे और प्रेरणासे प्रकृतिमें सब कार्य हो रहे हैं।

इस प्रकार प्रतीक-सूचित मंत्रोंके अर्थका विचार हुआ। अब अगले मंत्र देखेंगेः—

मंत्र ८–९

(७) ज्ञानी उस आत्माको देखता और वर्णन करता है।

"ज्ञानी उस परमात्माको प्रत्येक पदार्थमें गुप्त रीतीसे छिपा हुआ, सबका आश्रय, सबका संयोग और वियोग करनेवाला, और कपडेके ताने और बानेके समान सर्वत्र फैला हुआ देखता है।"

"जिसका उत्तम स्थान हृदयमें है, उसका वर्णन आत्मज्ञानी वक्ता कर सकता है। बुद्धिमें रखे हुए इसके तीनों पाओंको जो जानता है, वह पालकोंका पालक बनता है।"

इन दोनों मंत्रोंको थोडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें हम देखते हैंः—

वेनस्तत्पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येक-रूपम् ॥ इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः ॥ १ ॥ प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान् गंधर्वो धाम परमं गुहा यत् ॥ त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥

अथर्व. २।१।१–२॥

"(वेनः) ज्ञानी उसको देखता है, कि जो (गुहा परमं) गुप्त स्थानमें परम तत्व है और जिसमें सब विश्व एक रूप होता है। (पृश्निः) आका-

शस्थ जगत् ने (इदं) इसी का (अदुहत्) दोहन किया है अर्थात् इसीसे जीवन-पोषणकी शक्तियां लीं हैं। (जायमानाः) बढनेवाले (व्राः) मनुष्य-समूह अर्थात् उन्नतिशील मनुष्यसमाज (स्व-विंदः) आत्मतत्वको जानते हुए अथवा तेजको प्राप्त करते हुए (अभि अनूषत-अनु वसन्ति) सब प्रकारसे एक होकर रहते हैं।"

दूसरा मंत्र प्रायः एकसा है, इस लिये यहां अर्थ देनेकी आवश्यकता नहीं। अब पाठभेद देखीए:—

यजुर्वेद पाठ				अथर्ववेद पाठ
निहितं गुहा सत्।...	...	...	...	परमं गुहा यत्।
विश्वं भवत्येकनीडम्।	...	...	...	विश्वं भवत्येकरूपम्।
अमृतं नु विद्वान्।...	...	...	...	अमृतस्य विद्वान्।
विभृतं गुहा सत्।...	...	...	...	परमं गुहा यत्।

'वेनस्तत्पश्यत्' इस मंत्रका उत्तरार्ध अथर्ववेदमें नहीं है। यजुर्वेदके 'एक-नीडं' शब्दका अथर्ववेदमें रूपान्तर 'एक-रूपं' है, वह पहिले शब्दका अर्थ विशेष प्रकारसे स्पष्ट करता है। 'नीड'का अर्थ 'पक्षीका घोंसला' है। परमात्मरूपी सुपर्ण पक्षीके घोंसलेमें यह सब विश्व समाया है, यह भाव "एक-नीडं" शब्दसे लेना है। तथा परमात्मामें यह सब एक रूप बनता है, यह आशय 'एक-रूपं' शब्दसे व्यक्त होता है।

मंत्रमें "वेनः तत् पश्यत्" कहा है। 'वेन' उसको कहते हैं कि जो ज्ञानी और विचारी होता है। 'वेन*' धातुका अर्थ—'हलचल करना, प्रयत्न करना, जानना, विचार-मनन-करना, वाद्य बजाना, और स्वीकार करना' है। इस लिये वेनका अर्थ ज्ञानी है। निघण्टु अ. ३।१५ में 'मेधा-वि-नामानि'में वेन शब्दका पाठ आया है। ज्ञानी और विचारी उस ईश्वरको जानता है। अज्ञानी और अविचारी नहीं जान सकता।

"निहितं गुहा सत्।" यह दूसरा वाक्य है। वह सत् अर्थात् सत्स्व-रूप परमेश्वर गुहामें है। यहां गुहा शब्दका अर्थ विचारने योग्य है।

---

* वेन-गति-ज्ञान-चिन्ता-निशामन-वादित्र-ग्रहणेषु॥ पाणिनीय धातुपाठ। भ्वादिः।

'हृदय, बुद्धि, पहाडों की गुफा, गुप्त स्थान' इतने गुहा शब्दके अर्थ हैं । 'गुह्' धातुका अर्थ 'गुप्त रखना' है।

गुहाऽऽहितं—बुद्धिमें रखा हुआ ।

गुहा–चरं—ब्रह्म ।

गुहा–शयः—परमात्मा । जीवात्मा ।

गुहा—बुद्धि, हृदय, प्रत्येक पदार्थका आंतरिक भाग ।

इन अर्थोंको देखनेसे उक्त वाक्यका पता लग सकता है । परमेश्वरको अपने अंतःकरणमें देखना चाहिए ।

"यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम् ।" जहां सब विश्व एक घोंसले में समाया होता है, अर्थात् परमेश्वरके घोंसलेमें यह सब विश्व समाया है । नीड शब्दके अर्थ—'घोंसला, घर, स्थान, आश्रय, बिछौना, गुहा, अंदरला हिस्सा, विश्रामका स्थान' हैं । परमेश्वर इस विश्वका सच्चा आश्रय है । इतनाही यहां तात्पर्य है ।

"तस्मिन् इदं सं च वि चैति सर्वम् ।" उसमें यह सब विश्व बनता है और बिघडता है । (समेति) 'सं–एति' का अर्थ 'एक होकर चलना' है, और (व्येति) 'वि–एति' का अर्थ 'अलग होना' है । उत्पत्ति–विनाश, संयोग–वियोग, बनना–बिघडना आदिभाव इन शब्दोंमें हैं । परमेश्वर इस सृष्टिको बनाता है और बिघाडता है । दोनों क्रियाएं उससे चल रहीं हैं ।

"स ओतः प्रोतः च विभूः प्रजासु ।" सब प्रजाओंमें वह ओतप्रोत व्यापक है । जिस प्रकार कपडेमें ठाढे और बेडे धागे होते हैं, जहां तक कपडा है, वहां तक धागे रहते हैं, उसी प्रकार सब विश्वमें ईश्वर है हि है ।

"विद्वान् *गंधर्वः गुहा विभृतं तत् अमृतं सत् धाम नु प्रवोचत् ।" विद्वान वक्ता गुहामें रखे हुए उस अमर सत्यधाम के विषयमें कह

---

* 'गां वाणीं धारयति प्रेरयति पोषयति वा स गंधर्वः ।' वाणीका प्रेरक गंधर्वा होता है । वक्ता, गायक ।

सकता है। उसका वर्णन करना साधारण मनुष्यसे नहीं हो सकता। ज्ञानीहि उसका वर्णन कर सकता है।

"अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहितानि।" इसके तीन पद गुहामें रखे हैं। इन तीन पदोंके विषयमें विशेष विचार करना चाहिए। उससे पूर्व गुहा शब्दका अर्थ देखना चाहिए। गुहा=गुप्त, ढंका हुआ, छिपा हुआ, आच्छादित, गुप्तस्थान, श्रुति, बुद्धि, हृदय, गुफा। इन अर्थोंमें से 'बुद्धि-हृदय' येही अर्थ यहां विवक्षित हैं। हृदयमें अथवा बुद्धिमें तीन पद रखे हैं। गुप्त स्थान यह भी अर्थ यहां लिया जा सकता है। गुप्त स्थानमें ईश्वरके तीन पद रखे हैं। अब ढूंढने चाहिए कि ये तीन पद कौनसे हैं। ऋग्वेदमें कहा है:—

> इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्॥ समूढमस्य पांसुरे॥१७॥ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः॥ अतो धर्माणि धारयन्॥१८॥ विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा॥१९॥ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः॥ दिवीव चक्षुराततम्॥२०॥ तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते॥ विष्णोर्यत्परमं पदम्॥२१॥
>
> ऋ. १।२२॥

"(विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मानें यह सब (*वि-चक्रमे) विशेष क्रम पूर्वक रखा है (Kept in order)। (त्रेधा) तीन प्रकारसे उसने पद रखा। (※पांसुरे) धूलिमय स्थानमें अर्थात् प्राकृतिक परमाणुओं में (अस्य) इस व्यापक परमात्माका सब कार्य (+सं-ऊढं) नियमों से सुव्यवस्थित (regularly arranged) हुआ है॥

---

* **वि-क्रम्**—का अर्थ To move on, advance, rise, show valour; आगे बढना, उन्नती करना, पराक्रम करना॥ वि-क्रम To work in regular order नियम युक्त क्रमसे कार्य करना॥ ※**पांसु-र** (पांसु-ल)=पांसु-धूली, प्रकृति परमाणु, Matter, +**समूढं** (सं-ऊढं)=United, regularly arranged, restored to order, collected; मिला हुआ, नियमपूर्वक सुव्यवस्थित बना हुआ।

“(गो–पा) इंद्रियोंके अथवा पृथिवी आदि सृष्टिके पालक और (अ–दाभ्यः) न दबनेवाले सर्वव्यापक परमात्मानें तीन पदोंको विशेष क्रमसे रखा है। (अतः) इसलिये वह सब धर्मोंको अर्थात् धारक और पोषक गुणोंको धारण और पोषण करता है।

“सर्वव्यापक ईश्वरके ये सब कर्म देखीए। जिससे व्रतोंको अर्थात् धर्म-नियमोंको (पस्पशे) जाना जाता है। वह (इन्द्रस्य) जीवात्माका (युज्यः) योग्य (सखा) मित्र है॥

“सर्वव्यापक परमात्माका वह परम पद है, कि जो सदा (सूरयः) ज्ञानी लोक देखते हैं। जिस प्रकार (दिवि इव) द्युलोकमें (चक्षुः) जगत् का सूर्यरूपी आंख (आ–ततं) खोलकर रखा है। [उस प्रकार ज्ञानी लोकोंको परमात्माका साक्षात्कार होता है, जैसा साधारण लोकोंको सूर्य दिखाई देता है।]

“जो विष्णुका परम पद है उसको ज्ञानी, (वि–पन्यवः) यशस्वी, (जागृवांसः) जागनेवाले, उद्यमी पुरुष (सं इंधते) उत्तम रीतीसे प्रकाशित करते हैं॥”

इन मंत्रों में परमात्माके तीन पदोंका वर्णन है। परमात्माके तीन पद प्रकृतिके परमाणुओंमें विशेष क्रमपूर्वक रखे जाते हैं। प्रकृति परमाणु अदृश्य होनेके कारण इस अदृश्य अर्थात् गुप्त स्थानमें परमेश्वरके तीन पद रखे जाते हैं। कहां किस प्रकार रखे हैं, इसका पता लगना बडा मुष्किल होता है। परमात्माकी शक्ति वृक्षोंको बढा रही है, परंतु किस प्रकार बढाती है, इसका परिज्ञान होना कठिन है। उनका सब कार्य गुप्त रीतीसे चलता है। इसके तीन पदोंके विषयमें और देखीए:—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं
दिवि॥ ३॥ त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा
भवत्पुनः॥ ४॥

ऋ. १०।९०। यजु. अ. ३१।

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाऽभवत्पुनः ॥
अथर्व. १९।६॥

"इसका एक (पादः) पाद सब भूत हैं और इसके तीन पाद द्युलोकमें अमृतरूप हैं ॥ यह त्रि-पाद् पुरुष ऊपर उदय को प्राप्त हुआ है, और उसका एक पाद यहां-इस विश्वमें-होता है ॥ तीन पावोंसे उसनें द्युलोक पर आरोहण किया है और एक पादसे विश्वको वारंवार बनाया है।"

इन मंत्रोंमें पाद शब्द अंशका वाचक है। इस विश्वमें परमेश्वरका एक अल्पसा अंश कार्य करता है परंतु बाकीका अवशिष्ट द्युलोकमें चमकता है। अर्थात् उसकी अपेक्षा यह विश्व अत्यंत अल्प है। यहां पाद शब्दसे पांव अथवा चतुर्थभाग लेना नहीं है। विश्व छोटा है और वह बहुत बडा है, यह भाव यहां बताया है ॥ त्रिपाद् ब्रह्मकी कल्पना निम्न मंत्रमें स्पष्टतासे देखनी योग्य है:—

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वितष्ठे तेन जीवंति प्रदिशश्चतस्रः ॥
अथर्व.९।१०।१९॥

"(पुरु-रूपं) बहुतोंको रूप देनेवाला त्रिपाद् ब्रह्म विशेष प्रकार रहता है, जिससे चारों दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाला सब विश्व जीवित रहता है।" इस प्रकार त्रिपाद् ब्रह्मका वर्णन अथर्ववेद कर रहा है।

यहांतक का सब वर्णन देखनेसे विदित होता है कि "तीन पदों"का वर्णन आलंकारिक है, वास्तविक नही। जैसा "त्रि-पाद्" शब्द परमेश्वरवाचक है तथा "सहस्र-पाद्" शब्दभी परमेश्वरवाचक वेदमें आया है। एकही ईश्वरका त्रि-पाद् और सहस्र पाद् इन दोनों शब्दोंसे एकहि सूक्तमें (ऋ. १०।९०।) वर्णन किया है। जिससे सिद्ध है कि "तीन पांव और हजार पांव" की कल्पना रूपक अलंकारसे लेनी चाहिए, न की वास्तवमें वैसे पांववाला कोई है। जब वास्तवमें कोई पांव नहीं तब तीन पावोंका रखना आदिभी आलंकारिक भाषा है। इस पाद व्यवस्थाके साथ ओंकारके चार पादोंकी कल्पना देखने योग्य है। निम्न कोष्टकसे इसकी व्यवस्था जानी जा सकती है:—

	(व्यक्त) एकपाद्	(गुप्त) त्रिपाद्		
१ ओंकार	अ	उ	म्	अर्धमात्रा
२ अवस्था	जागृति	स्वप्न	सुषुप्ति	तुर्या
३ शरीर	स्थूलशरीर	सूक्ष्मशरीर	कारणशरीर	महाकारणशरीर
४ देह	स्थूलदेह	लिंगदेश	कारणदेह	महाकारणदेश
५ कोश	अन्नमय कोश	प्राणमयकोश मनोमयकोश	विज्ञान-मयकोश	आनंदमयकोश
६ तत्व	शरीर	प्राण, इंद्रिय मन	बुद्धि	आत्मा
६ व्याहृति लोक	भूः	भुवः	स्वः	महः, जनः, तपः, सत्यं
७ व्यापार	कर्म, आचार	विचार	संकल्प	कैवल्य

आध्यात्मिक—व्यक्तिविषयक।

आधिदैविक—विश्वविषयक—पारमार्थिक।

१ ओंकार	अ	उ	म्	अर्धमात्रा
२ रूप	वैश्वानरः	तैजसः	प्राज्ञः	शिवः
३ सृष्टि	बाह्यजगत् स्थूलजगत्	सूक्ष्मतत्व	कारणतत्व	आदितत्त्व
४ भूत	महाभूत	सूक्ष्मभूत	महत्तत्व	अविकारी तत्व
५ लोक	भूः	भुवः	स्वः	महः, जनः, तपः, सत्यं
६ व्यापार	कर्म	चैतन्य	ज्ञान	आनंद
७ अवस्था	स्थूल	सूक्ष्म	कारण	अ-कारण

उक्त कोष्टकसे गुहामें गुप्त रखे हुए तीन पदोंकी थोडीसी कल्पना हो सकती है। वेदमें "त्रि" अथवा "तीन" शब्द विशेष महत्व का है, देखीएः—

(१) त्र्यनीकः—(त्रि-अनीकः)=तीन रूप (appearances), तीन तेज (Splendor), तीन शक्तियां (forces), इनसे युक्त। (ऋ. ३।५६।३।)

त्रिपाजस्यः—(त्रि-पाजस्यः)=स्थिरता (firm-ness), बल (Strength) और तेज (luster) से युक्त।

त्र्युधा—(त्रि-उधन्)=तीन प्रकारके पोषणोंसे युक्त।

(२) त्र्यरुणः—(त्रि-अरुण)=तीन तेजोंसे युक्त। (ऋ. ५।२७।१।)

(३) त्रि-धातुः—तीन धारक शक्तियोंसे युक्त। (ऋ. १।३४।६।)

(४) त्रि-नाकः—तीन सुखोंसे युक्त। (ऋ. ९।११३।९।)

त्रिदिवः—तीन दिव्यगुणोंसे युक्त। (,,)

(५) त्रि-पस्त्यं—तीन स्थानोंमें रहनेवाला (ऋ. ८।३९।८।)

त्रिसधस्थः—तीन गृहोंमें रहनेवाला (ऋ. ५।४।८।)

(६) त्रि-पाद्—तीन पांववाला अथवा तीन प्रकारके गतियोंसे युक्त। (ऋ. १०।९०।३।)

(७) त्रि-वरूथः— तीन श्रेष्ठताओंसे युक्त। (६।१५।९।)

(८) त्रि-शोकः—तीन पवित्रताओंसे अथवा तीन तेजोंसे युक्त। (ऋ. ८।४५।३०।)

(९) त्री-नामन्—तीन यशोंसे युक्त। (अथर्व. ६।७४।३।)

(१०) त्रि-प्रतिष्ठित—तीन प्रकारसे स्थिर (अथ. १०।२।३२)

(११) त्रि-वृत्—तीन प्रकारसे वेष्टन करनेवाला (अ. ५।२८।४)

इस प्रकार अनेकविध वर्णन वेदोंमें आया है। "त्रि" शब्दके समस्त प्रयोग देखनेके पश्चात् इसकी ठीक ठीक कल्पना हो सकती है। परंतु वे

प्रयोग इतने हैं कि, सब प्रयोगोंका विचार करना बडा विस्तृत पुस्तक लिखनेके विना नहीं हो सकता। यहां थोडीसी कल्पना आनेके लिये बहुतहि थोडा संग्रह किया है।

आशा है कि पाठक इसका विचार करके और अन्य मंत्रोंको देख कर इस तीन संख्याके महत्वकी खोज करेंगे। इस तीन संख्याका महत्व जानना कोई आसान कार्य नहीं:—

यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्।

"जो उस तीन पदोंको जानता है, वह पालकोंका पालक होता है।" इतनी योग्यता इस गहन विचारको जाननेसे होती है। यह विषय बडा गहन है, बडे परिश्रमसे साध्य होनेवाला है। बहुतोंके परिश्रमसे सुसाध्य होना संभव है। इस लिये पाठकोंसे प्रार्थना की है।

अस्तु। अब अगला मंत्र देखते हैं:—

मंत्र १०

(८) वह हमारा भाई है।

"वह परमात्मा हम सबका भाई, जनक और धारण पोषण कर्ता है। वह जगतके सब स्थानोंको जानता है। जिस तीसरे परम श्रेष्ठ धाममें ज्ञानी पुरुष अमृतानंदका अनुभव लेते हुए विचरते हैं, वहां वह परमात्मा है॥"

शरीर, मन और हृदय ये तीन धाम हैं। इनमें हृदय तीसरा धाम है। जिसमें परमात्माका साक्षात् अनुभव किया जाता है। हृदय भक्तिका स्थान है। मन विचारका स्थान है और शरीर कर्मका स्थान है। ज्ञानियोंको अपने अमरपन का अनुभव भक्तिसे होता है। इस लिये तृतीय धामका वर्णन वेदोंमें बहुत है। देखीए:—

तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसं ॥ ऋ. १०।४५।३॥ यजु. १२।२०॥

"तीसरे लोकमें रहेनेवाले तेरी भक्ति करते हैं।"

तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ यजु. ३२।१०॥

तृतीये धामन्यभ्यैरयन्त ॥ तै. आ. १०।१।४॥ महा. ना. उ. २।५॥

"तीसरे स्थानमें ऊपर चढकर रहते हैं।"

तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥ अथर्व. १८।४।३॥ ९।५।८

तृतीये नाके अधि विश्रयैनम् ॥ अथर्व. ९।५।४॥

"तीसरे स्वर्गमें इसका आश्रय करो।"

असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः ॥ क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥

ऋ. ९।८६।२७॥,

"जहां (अ-सश्चतः) लगातार चलनेवाले सैंकडों धाराओंसे युक्त उदक के फंवारे (*हरिं) आपत्तिका हरण करनेवाले ईश्वर का वर्णन करते हैं, वहां द्युलोकके चमकीले तीसरे पृष्ठपर (गोभिः) इंद्रियोंके साथ रहते हुए (क्षिपः) पुरुषार्थी लोक अपने आपको (परि मृजंति) शुद्ध करते हैं।"

नदीके तटपर अथवा चष्मेके पास बैठ कर ज्ञानी पुरुषार्थी लोक हृदयमें परमात्माकी भक्ति करके शुद्ध होते हैं। यह आशय इस मंत्रमें है, तथाः—

---

* 'गोभिः आवृतं हरिम्।' इस वाक्यके दो अर्थ होते हैं। (१) इंद्रियोंसे वेष्टित आत्मा अथवा पृथिव्यादि भूतोंसे वेष्टित परमात्मा, (२) गौवोंसे वेष्टित हरि अर्थात् श्रीहरि। पौराणिक लोकोंनें दूसरा अर्थ भ्रमसे लेकर अर्थका अनर्थ समझकर कथाका वर्णन किया है। उस गोपाल कृष्णकी कथाका यहां कोई संबंध नही है।

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वरा भरन्तः ॥ तस्मिन्नहं निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनव-स्तीर्णबर्हिषम् ॥ ४९ ॥ तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ॥ नाकं गृभ्णानाः सुकृ-तस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥ ५० ॥

यजु. वा. सं. १५॥

"जिस तपको करनेवाले, आत्माग्निको प्रज्वलित करनेवाले और (स्वः) आत्मिक तेजका पोषण करनेवाले ऋषिगण जिस यज्ञको अर्थात् प्रशस्त (सत्रं) कर्मको करते हैं, उस (नाके) स्वर्ग में अर्थात् उस कर्ममें मैं उस अग्निको (निदधे) रखता हूं कि, जिसको (मनवः) विचारी विद्वान (तीर्ण-बर्हिषं) मनसे परे रहनेवाला कहते हैं।

"हे (देवाः) विद्वानों ! उस यज्ञके पीछे पीछे हम सब पत्नी, पुत्र, भाई और धनोंके साथ (अनुगच्छेम) चलेंगे । जिससे (सु-कृतस्य दिवः) उत्तम कर्मरूपी स्वर्ग लोक के (तृतीये पृष्ठे) तीसरे पीठ पर (रोचने लोके) तेजस्वी लोक में (नाकं गृभ्णानाः) आनंदका अनुभव करते हुए रह सकते हैं ।"

इन मंत्रों से स्वर्ग के तीसरे मंजलकी कल्पना ठीकठीक आ सकती है। "सु-कृत" अर्थात् सत्कर्म हि स्वर्ग है । उसमें

१ श्रेष्ठ सु-कृत—श्रेष्ठ कर्म—पहिला स्वर्ग.
२ श्रेष्ठतर सु-कृत—श्रेष्ठतर कर्म—दूसरा स्वर्ग.
३ श्रेष्ठतम सु-कृत—श्रेष्ठतम कर्म—तीसरा स्वर्ग.

ये तीन मंजल हैं । श्रेष्ठतम कर्मकी तीसरी मंजलपर आनंदका अनुभव आता है । भाई, पत्नि, पुत्र और अपना धन इन सबके साथ इसी मंज-लकी प्राप्तिके लिये चढना है । इसी लिये कहा है किः—

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ॥

यजु. अ. १ । १ ॥

"परमात्म देव आप सबको श्रेष्ठतम कर्म के लिये प्रेरित करे।" क्यों कि श्रेष्ठतम कर्म हि तीसरा स्वर्ग है। अस्तु उक्त मंत्र पर विचार करनेसे वैदिक स्वर्गकी सच्ची कल्पना हो सकती है।

और देखीए:—

अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन् तृतीये
लोके अनृणा स्याम ॥ ये देवयानाः
पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो
अनृणा आक्षियेम ॥

अथर्व. ६। ११७। ३॥

"इस लोकमें, परलोकमें और तीसरे लोकमें हम सब अनृण होवें। जो विद्वानोंके और रक्षकोंके आनेजाने के मार्ग और स्थान हैं उन सब स्थानोंमें हम सब अनृण होकर रहें।"

इस में तीसरे लोकों में अनृण अर्थात् कर्जासे मुक्त होकर रहनेकी कल्पना है। यह तीसरा लोक कौनसा है? इसका विचार करने के लिए निम्न बातको विचारना चाहिए:—

'मै'	'I' (Soul)	अहं (आत्मा)	अस्मत्	एष लोकः	अहंभाव
'दूसरा'	'*Not*-I' (universe)	अन्–अहं (अनात्मा)	युष्मत्	परलोकः	परभाव
मेरा और दूसरेका परस्पर संबंध	Connection between I & not—I (action)	परस्पर संबंध जोडनेवाला सुकृत	युष्मदस्मत्संबंधः आचारः	तृतीयलोकः। सुकृतस्यलोकः। श्रेष्ठतम कर्म।	दोनोंका संयोग। सत्कर्मयोग

इस विश्वमें (१) 'मैं' और (२) 'मैं-नहीं,' ऐसे दो पदार्थ हैं। "मैं" से आत्मा जाना जाता है और "मैं नहीं" से आत्माके अतिरिक्त सब विश्व जाना जाता है। मेरे सिवाय भिन्न जितना विश्व है, उसके साथ मेरा क्या कर्तव्य है ? इसका विचार करनेसे अपने संपूर्ण व्यवहारका परिज्ञान होता है। यही सुकृतका लोक है। धर्म और धर्मका ज्ञान इसी विचार से होना है। मानो सुकृतसे मेरा और दूसरोंका संबंध जोडा जाता है और दुष्कृतसे मेरा और दूसरोंका संबंध तोडा जाता है। मेरा कुटुंबके साथ, जाति के साथ, राष्ट्रके साथ, संपूर्ण जनताके साथ तथा संपूर्ण विश्वके साथ क्या संबंध है ?. मेरा उनके साथ क्या कर्तव्य है ? इसका सब विचार "सु-कृत-लोक" शब्द में आचुका है। यही 'सुकृत-लोक' दूसरों के साथ मेरा संबंध अच्छी प्रकार जोडता है।

मुझे अपने विषयमें अनृण होना चाहिए दूसरोंके विषयमें अनृण होना चाहिए और दोनोंका संबंध होनेपर जो कर्तव्य करने होगें, उन कर्तव्योंको करनेके समय भी अनृण होना चाहीए। ऋण शब्दसे न्यूनता बताई जाती है और अनृण शब्दसे पूर्णता बताई जाती है। मुझे (१) अपने कर्तव्य, (२) दूसरों के विषयमें कर्तव्य और (३) दोनोंको संयुक्त रखनेके लिये कर्तव्य, इस प्रकार करने चाहिए कि, जिनमें न्यूनता न रहे। अस्तु। इस प्रकार तृतीय-सुकृत-लोक की एक नवीन कल्पना यहां विदित हुई।

तृतीय धाम, तृतीय लोक, तृतीय नाक आदि कल्पनाओंके विषयमें बहुत खोज की आवश्यकता है। चारों वेदोंमेंसे सब वचन एकत्रित करके विचारपूर्वक खोज करनेके पश्चात मंत्रोंके आशय निश्चित किये जा सकते है। यहां थोडा दिग्दर्शन किया है। पाठकोंको उचित है कि वे खोज करें और गूढ आशयको प्रकाशित करें।

अब कुछ पाठभेदोंका विचार करना है। अथर्ववेदमें निम्न प्रकार पाठभेद हैं:—

स नः पिता जनिता स उत बंधुर्धामानि
वेद भुवनानि विश्वा ॥ यो देवानां नामध
एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा
॥ ३ ॥ परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं
विततं दृशे कम् ॥ यत्र देवा अमृतमान-
शानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

अथर्व. २।१॥

" वह हमारा (पिता) रक्षक, (जनिता) उत्पादक, प्रेरक, और बंधु है। वह सब भुवनों और स्थानोंको जानता है । वह अन्य देवोंके नाम धारण करनेवाला एकहि ईश्वर है। उसीके पास प्रश्न पूछनेके लिए सब लोग जाते हैं। "

" (कं) आनंदकारक (ऋतस्य विततं तंतुं) सत्य (Eternal law) के व्यापक धागेको (दृशे) देखनेके लिये, सब भुवनोंमें (परि आयम्) मैनें भ्रमण किया। अमरपनका अनुभव लेनेवाले ज्ञानी (यत्र समाने योनौ) जिस एक समान आदिकारण (one common birthplace) में उन्नत होते हुए चढते हैं। " वहां वह सूत्रात्मा है।

पाठक इन मंत्रोंके पाठभेदोंकी तुलना अपने दशम मंत्र के साथ कर सकते हैं। इस में कई बातें अधिक हैं। और कई अंशोंमें अर्थका गौरव भी है। अब ऋग्वेदका पाठ देखीए:—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि
वेद भुवनानि विश्वा ॥ यो देवानां नामधा
एक एव तं सं प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

ऋ. १०।८२।३॥

" जो हम सबका रक्षक, उत्पादक, धारक और पोषक है, जो सब भुवनों और धामोंको जानता है, जो सब देवताओंके नामोंका धारण करता है। वह एक ईश्वर है। उसको प्रश्न पूछनेके लिये दूसरे सब लोक (संयंति) एकत्रित होते हैं। "

इन मंत्रों में पिता* और जनिता ये दो शब्द क्रमशः रक्षक और जनक के बोधक हैं । इनपर बहुत विचार करना चाहिए । वेदोंमें " पितरः " देवतावाले जो मंत्र आते हैं, उनका अर्थ करने के समय इस अर्थ को ध्यानमें रखना उचित है । अस्तु । इस प्रकार दशममंत्रका विचार हुआ । अब अगला मंत्र देखेंगेः—

मंत्र ११-१२

(९) सत्यके अटल धागेका दर्शन ।

"सब भूतों सब लोकों और सब दिशा विदिशाओंको जान कर, सत्य नियम के पहिले प्रकाशक की उपासना करके ज्ञानी केवल आत्म-स्वरूपसे परमात्मामें प्रविष्ट होते हैं ।"

" द्युलोक से पृथ्वीलोक तक सब पदार्थों, सब लोकों और दिशा विदिशाओंको तथा आत्मप्रकाशको जानकर, सत्यके व्यापक तंतुको अलग करके, उसको जब जानता है, तब जीवात्मा जैसा पहिले था वैसा होता है । "

यह आशय इन दो मंत्रोंका है । इन दो मंत्रोंमें निम्न बातें कहीं हैं । (१) तृणसे लेकर सूर्यतक सब सृष्टिके पदार्थोंको जानना । (२) सूत्रात्माको व्यापक और सृष्टिसे अलग मानना और अनुभव करना । (३) आत्माका परमात्माके साथ योग करना । (४) और पूर्व अवस्थाके सदृश अवस्थाको प्राप्त करना । ये चार उपदेश इन दोनों मंत्रोंमें हैं । इनका क्रमशः विचार करना है ।

---

* पिता शब्द जनक का वाचक नहीं, पालक का वाचक है । अर्थात् पितृश्राद्ध, पितृमेध, पितृयज्ञ, ये शब्द पालकोंके विषयका अपना कर्तव्य बताते हैं न कि जनक के विषयका । पितर शब्दका अर्थभी पालक और रक्षक है । इसलिये यहांके पिता और जनिता ये दो शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं ।

(१) सब सृष्टिके पदार्थोंको जानना ।

परीत्य भूतानि, परीत्य लोकान्, परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ॥ ११ ॥ परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा, परि लोकान्, परि दिशः, परि स्वः ॥ १२ ॥

दो मंत्रोंके ये दो प्रथम अर्ध हैं । प्रायः इनका आशय एकसाहि है । दूसरे मंत्रार्धमें " परि स्वः " यह शब्द अधिक है । " स्वः, स्वर्, सु-वर" इनका अर्थ " स्व-प्रकाश, आत्म-तेज, आत्म-बल " है । विश्वको जानना और आत्मशक्तिको जानना है । केवल विश्वको जाननेसे कार्य नहीं होगा तथा केवल आत्मशक्तिका विचार करनेसे कार्य नहीं होगा । दोनोंको जानना चाहिए ।

पदार्थ-विद्या से विश्वको जाना जाता है, और आत्मविद्यासे आत्मा जाना जाता है । पदार्थविद्याको अविद्या* और आत्मविद्या को विद्या कहते हैं । इन दोनोंको जानना चाहिए । पदार्थविद्यासे सृष्टिके अटल नियमोंका परिज्ञान होता है, और ये अटल नियम जहांसे प्रेरित होते हैं, उस परमात्माका ज्ञान आत्मविद्यासे होता है ।

इतनी विस्तृत सृष्टिको किस प्रकार जानना ? ऐसी शंका यहां कोई कर सकता है । सृष्टिके तत्वोंको जाननेसे सब सृष्टि जानी जा सकती है । जिस प्रकार थोडे अग्नितत्वको जाननेसे संपूर्ण अग्नितत्व जाना जा सकता है, इसी प्रकार वायु, विद्युत्, आदि अन्य पदार्थोंके गुणधर्म जाननेसे संपूर्ण सृष्टिका बोध होता है । क्यों कि तत्वोंके नियम, गुणधर्म और विकास सर्वत्र एक जैसेहि है ।

इस प्रकार सृष्टिका परिज्ञान होते ही सूत्र आत्माका आलग अस्तित्व प्रतीत होने लगता है ।

---

* ' ईशोपनिषद् का स्वाध्याय ' विद्या अविद्या प्रकरणमें इस विषयका स्पष्टीकरण देखीए ।

(२) व्यापक सूत्रात्माको सृष्टिसे अलग मानना ।

यह आत्मविद्याके ज्ञानसे साध्य होता है । प्रकृति और आत्मा परस्पर भिन्न हैं, ऐसा निश्चित ज्ञान होना चाहिए ।

उपस्थाय प्रथम-जां ऋतस्य ॥ ११ ॥
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य ॥ १२ ॥

उक्त दो मंत्रों के ये तृतीय चरण प्रायः एकहि भाव प्रदर्शित करते हैं । "ऋत (right) अर्थात् अटल नियमोंके प्रथम प्रवर्तकके सन्मुख होना" पहिले का आशय है, और "ऋत अर्थात् सत्यके व्यापक सूत्र—आत्मा—को अलग करके" देखना दूसरेका आशय है । इसी तंतुके विषयमें ऋग्वेदमें कहा है:—

विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य
कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः ॥

ऋ. १०।५।३॥

"(चरतः ध्रुवस्य) जंगम और स्थावर (विश्वस्य नाभिं) विश्वके मध्यमें रहनेवाले (तन्तुं) सूत्रको (कवेः चित् मनसा) कवीके मनसे हि (वि—यन्तः) अलग करते हैं ।"

स्थावर जंगम जगत् के बीचमें व्यापक सूत्रात्माको कवी की दिव्य दृष्टिसे अलग देखना और अनुभव करना चाहिए । साधारण दृष्टिसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता । जो ज्ञान साधारण मनुष्य नहीं जान सकते, उसको कवी अच्छीप्रकार जान सकते हैं । कवी की दृष्टी उच्च और दिव्य होनेसे दूरतक पहुंचती है । तंतुके विषयमें अथर्ववेद कहता है:—

रोहितो द्यावा पृथिवी जजान तत्र तन्तुं
परमेष्ठी ततान ॥ तत्र शिश्रियेऽज एक-
पादोऽदृंहद् द्यावा पृथिवी बलेन ॥

अथर्व. १३।१।६॥

"(रोहितः) तेजस्वी परमात्मानें द्युलोक और पृथिवीलोक बनाये और (तत्र) उनके बीचमें (परमेष्ठी) परमात्माने (तंतु) एक धागे को (ततान) फैलाया है। और (बलेन) शक्तिसे द्युलोक और पृथिवीको (अ दृंहत्) बलवान् किया है (तत्र) वहां (एक-पात् अ-जः) एक अंशरूप अज अर्थात् जीवात्मा (शिश्रिये) आश्रय लेता है।" तथाः—

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः॥
तमाहुतमशीमहि॥ अथर्व. १३।१।६०॥

"जो यज्ञ अर्थात् सत्कर्मका साधक तंतु देवोंमें फैला है, (तं) उसके लिये (आहुतं) दान करनेके पश्चात् (अशीमहि) हम सब मिलकर अन्न ग्रहण करते हैं।"

8328

इस प्रकार विश्वव्यापक तंतु के विषयमें वेदोंमें लिखा है, पूर्व मंत्रके स्पष्टीकरणमें तन्तुके विषयमें आया हुआ मंत्र भी यहां देखने योग्य है। इस सूत्रात्माको जानना चाहिए। जैसा मोतियोंके बीचमें सब मालाके आधार के लिये एक धागा होता है, उसीप्रकार सूर्यचंद्रादि मोतियोंके बीचमें परमात्मा सूत्ररूप है। इस प्रकार व्यापक और आधारभूत परमात्माकी कल्पना यहां स्पष्ट की गई है। इस कल्पनाको देखनेके पश्चात् "ऋतस्य प्रथम-जां" शब्दों से व्यक्त होनेवाली कल्पना को विशेष रीतीसे देखना चाहिएः—

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदिते-
रुपस्थे॥ अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व
आयुनि वृषभश्च धेनुः॥

ऋ. १०।५।७॥

"(दक्षस्य) बलकी (जन्मन्) उत्पत्तिके समय (अ-दितेः) अविनाशी मूल प्रकृतिके (उप-स्थे) पास (परमे व्योमन्) परम विस्तृत आकाशमें (सत् च) तीनों कालोंमें एक जैसा रहनेवाला अविकारी आत्मतत्व और (अ-सत् च) उस आत्मासे भिन्न पदार्थ थे। इस (पूर्वे आयुनि) प्रथम अवस्थामें (ह) निश्चयसे (नः) हम सबके अंदर

(ऋतस्य) सत्यका (प्रथम-जाः) पहिला प्रवर्तक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर प्रकाशित हुआ और उसके साथ (वृषभः) बल और (धेनुः) पोषणशक्ति थी।"

'दक्षस्य* जन्मन्' से तात्पर्य सृष्टिकी उत्पत्तिसे है। प्रलयकालमें प्रकृति, जीव, परमात्मा एक विशेष अवस्थामें रहते हैं। सृष्टिके प्रारंभमें परमात्माके बलका संचार प्रथम प्रकृतिमें होता है। वही 'दक्षका जन्म' है। इसी पूर्व युगमें ऋतका पहिला प्रवर्तक अग्नि प्रकाशित होता है। यही सृष्टिकर्ता ईश्वर है। इसके साथ वृषभ और धेनु होती है। वृष-भ वृष-ण आदि शब्द बल, वीर्य आदि भाव प्रदर्शित करते हैं, और धेनु शब्द पोषणशक्तिका द्योतक है। देखीयेः—

वृष-भ	धेनुः
वीर्य-दाता	दुग्ध-दात्री
जनक-त्व	मातृ-त्व
पुरुष-शक्ति	स्त्री-शक्ति
चैतन्य	प्र-कृति

अर्थात् ये दो शब्द दो भावोंको व्यक्त कर रहे हैं। इस विश्व में स्त्रीभाव और पुरुषभाव पशुपक्षियों और वृक्षवनस्पतियों भी विद्यमान हैं। परमेश्वरने जो अपनी शक्ति प्रथम प्रकृतिमें प्रकाशित की, उसी समय से स्त्रीपुरुष शक्तियां जगतमें कार्य करने लगीं हैं, यह तात्पर्य उक्त मंत्रमें है। अस्तु। इस मंत्रमें "ऋतस्य प्रथमजा" का वास्तव स्वरूप देखा जा सकता है। इसी विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैः—

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा
ब्रह्मणेऽपचत्॥ यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात्
तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्॥

अथर्व. ४।३५।१॥

* दक्षका जन्म अर्थात् बलका प्रादुर्भाव; Manifestation of power.

"(ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) सत्यके प्रथम प्रवर्तक प्रजापतिने (तपसा) अपने तेजसे (यं ओदनं) जिस सृष्टिरूपी चावलोंको (ब्रह्मणे) ज्ञान के लिये (अ-पचत्) पकाया। और (यः) जो (लोकानां वि-धृतिः) लोकों का विशेष धारण कर्ता और जो सबका मध्य है । उसके (तेन ओदनेन) पकायेहुए सृष्टिरूपी चावलोंसे (मृत्युं अतितराणि) मृत्युके पार होते हैं।"

इस मंत्रमें सृष्टिको मुक्तिका साधन बताते हुए कहा है, कि प्रजापति परमेश्वर "ऋतका प्रथम प्रवर्तक" है। इस मंत्रको देखने से "ऋतस्य प्रथम-जा" का सच्चा स्वरूप व्यक्त होता है और देखीए:—

> एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन्
> प्रथमजा ऋतस्य ॥ अस्माभिर्दत्तं जरसः
> परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥
>
> अथर्व. ६।१२२।१॥

(ऋतस्य प्रथमजा विश्व-कर्मन्) सत्यके पहिले प्रवर्तक विश्वके कारीगर को (विद्वान्) जानकर मैं यह अपना भाग अर्पण करता हूं। जिससे हम सब (अछिन्नं तंतुं) अटूट धागे को पकड कर, (जरसः परस्तात्) बुढा-पेसेभी परे की आयुका अनुभव करते हुए (अनु) ज्ञानियोंके पीछे पीछे रहते हुए (सं) एक होकर (तरेम) तेरेगें। पार होगें।

यहां विश्वका कर्ता हि ऋतका पहिला प्रवर्तक है ऐसा कहा है । और देखीए:—

> त्वमस्याऽऽवपनी जनानामदितिः कामदुघा
> पप्रथाना॥ यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति
> प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥
>
> अथर्व. १२।१।६१॥

"हे मातृभूमि। तू (आ-वपनी) बीज बोने योग्य (अ-दितिः) अखंडित (जनानां काम-दुघा) लोकोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली

और विस्तृत है । जो कुछ तेरे अंदर (ऊनं) न्यून होता है उसको सत्यका पहिला प्रवर्तक प्रजापति परमेश्वर (आ पूरयाति) पूर्ण करता है ।"

इन मंत्रोंको देखनेसे " ऋतस्य प्रथमजा " का अर्थ स्पष्ट होता है । देखीए:—

अग्निर्ह नः प्रथम–जा ऋतस्य ॥ ऋ. १०।५।७॥
प्रथम–जा ऋतस्य प्रजा–पतिः ॥ अथर्व. ४ । ३५ ।१॥
विश्व–कर्मन् प्रथम–जा ऋतस्य ॥ अथर्व. ६।१२२।१॥
प्रजापतिः प्रथम–जा ऋतस्य ॥ अथर्व. १२।१।६१॥
उपस्थाय प्रथम–जामृतस्य ॥ यजु. ३२।११॥

इन मंत्रोंको अन्वयरूपसे निम्न प्रकार रखते हैं:—

ऋतस्य प्रथम–जा अग्निः ॥
ऋतस्य प्रथम–जा प्रजा–पतिः ॥
ऋतस्य प्रथम–जा विश्व-कर्मा ॥

अथात् " अग्नि, प्रजापति, विश्वकर्मा " शब्दोंसे जो परमेश्वर बोधित होता है, वह ही " ऋतस्य प्रथमजा " शब्दोंसे होता है । यहां जाते जाते यह भी एक बात सिद्ध हुई, की अग्नि–प्रजापति–विश्वकर्मा ये तीन देवता भिन्न नहीं, परंतु एकहि अद्वितीय परमात्माके ये तीन नाम हैं । " ऋतस्य प्रथमजा " का अर्थ भी यहां निश्चित हो गया । इस प्रकार संपूर्ण वेदोंका भाव देखकर अर्थका निश्चय करनेसे वैदिक शब्दोंके अर्थोंका निश्चित ज्ञान हो सकता है ।

अस्तु अब बारहवे मंत्रका अंतिम भाग रहता है । वह यह है:—

तदपश्यत् । तदभवत् । तदासीत् ॥

इसका शब्दार्थ और भावार्थ पहिले दिया हुआ यहां फिर देखना चाहिए । " जब उस (तत्) परमेश्वर को (अपश्यत्) देखता है, तब वह (तत् अभवत्) वैसा बनता है, कि जैसा (तत् आसीत्) वह था ।"

मुक्त अवस्थामें जैसा पहिले था, वैसा फिर होता है। परमेश्वरका साक्षात्कार करनेका यह परिणाम है। (१) मुक्ति प्राप्त करना और (२) मुक्तिसे वापस लौटना, ये दोनों भाव यहां ध्वनित होते हैं। 'जैसा था वैसा होता है।' (तत् आसीत् तद् अभवत्) इससे ध्वनित होता है, कि जीवात्मा यहां आनेसे पूर्व मुक्त अवस्थामें था। अब फिर वैसा बना है। अर्थात् यदि फिर लौट आयगा, तो फिर भी वैसा ही बनेगा। इसमें कोई डरनेकी बात नहीं; यह एक पौरुष-सातत्य (Continuity of manly action) की उच्च कल्पना है।

अस्तु। यहां इन मंत्रोंका विचार छोडकर अब अगले मंत्रोंका विचार करेंगे।

मंत्र १३ से १५

(१०) सद्बुद्धि के लिये प्रार्थना।

"सबको प्राप्त करने योग्य, अद्भुत और प्रियमित्र ईश्वरके पास हम सबकी प्रार्थना है, कि वह हम सबको योग्य उपभोग और उत्तम सद्बुद्धि प्रदान करे।"

यह १३ वे मंत्रका आशय है। "सदसः पतिं" शब्दका अर्थ जगत् का स्वामी है, क्यों कि "सदस्" शब्दसे संपूर्ण जगत् हि लेना चाहिए। सदस् शब्दका मूल अर्थ 'घर' है। परमेश्वरका घर यह सब विश्व है, क्यों कि उसके अंदर वह रहता है।

"इन्द्रस्य प्रियं" का अर्थ 'जीवात्माका हितकर्ता' है। जीवात्मा का सच्चा मित्र परमात्मा ही है। इन्द्र शब्दका अर्थ यहां 'जीवात्मा' है।

"स्वा-हा" (स्व-आ-हा) का अर्थ 'स्वार्थ-त्याग" है। दुसरा अर्थ (सु-आह) 'उत्तम भाषण' करना है। परस्परका बर्ताव कैसा होना चाहिए, इसका उत्तर इस शब्दने दिया है। परस्परका बर्ताव स्वार्थ-

त्याग युक्त होना चाहिए। प्रत्येकको उचित है कि वह दुसरे के लिये अपना स्वार्थत्याग करे । इसी प्रकार सबका परस्पर बर्ताव होवे। परस्पर वार्तालाप भी उत्तम भाषणद्वारा होवे। कोई मनुष्य झगडेकी बात न करे। इस प्रकारके व्यवहार और वार्तालापसे समाजमें शांति और एकताका बल रहता है। जिससे मनुष्य उन्नति करके उपभोगके पदार्थ तथा उत्तम बुद्धिको प्राप्त कर सकते हैं।

"हे ईश्वर ! ज्ञानी और रक्षक मनुष्य जिसप्रकार की बुद्धि चाहते हैं, उस प्रकार की बुद्धिसे मुझे युक्त करो।" ॥ १४ ॥

राष्ट्रमें ज्ञानी, रक्षक, व्योपारी, कारीगर और जंगली ऐसे पांच प्रकारके लोग होते हैं, जिनको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद कहा जाता है। इन में ज्ञान देनेवाला ब्राह्मण और सबका संरक्षण करनेवाला क्षत्रिय ये दोनों श्रेष्ठ हैं। इसलिये इन दोनोंका ग्रहण इस मंत्रमें किया है। इनमें जिस प्रकारकी बुद्धि हुआ करती है, उस प्रकारकी बुद्धि प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त करनी चाहिए। अर्थात् ज्ञान और शौर्य ये दो गुण प्रत्येक मनुष्यको धारण करने चाहिए।

मंत्र १५ में 'विशिष्ट गुणों से युक्त परमात्मा हम सबको धारणा शक्तिसे युक्त मेधा बुद्धि प्रदान करे,' ऐसी प्रार्थना है। इसका भाव पूर्वोक्त प्रकार हि समझना चाहिए।

इन तीनों मंत्रोंके अंतमें 'स्वाहा' शब्द आया है । जिसका अर्थ निम्न प्रकार है:—

(१)स्व–आ–हा=अपने सर्वस्वका परोपकार के लिये पूर्णतासे त्याग। दान, परोपकार। स्वार्थत्याग।

(२) सु–आह=उत्तम भाषण करना।

(३) स्व–आह=अपने मनमें जैसी बात होती है, वैसीहि प्रकट करनी, अर्थात् छल कपट छोडकर, सत्यनिष्ठापूर्वक भाषण आदि व्यवहार करना।

इन अर्थोंको पूर्वोक्त तीनों प्रार्थनाओंके साथ जोडकर विचार करना चाहिए; जिससे विशेष अर्थका भाव पाठकों के मनमें प्रगट होगा।

मंत्र १६

(११) ब्राह्मण और क्षत्रियकी समान उन्नति ।

"ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलकर उत्तम तेजस्विता प्राप्त करें। सब उत्तम गुण मेरे में तेज की स्थापना करें। उस कार्य के लिये तेरा स्वार्थत्याग होवे।"

राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञानी और शूर, विद्वान् और बलवान् मिलजुल कर रहें तथा उनमें तेज रहे । जब इनमें परस्पर द्वेष होगा, तब राष्ट्रमें शिथिलता अर्थात् कमजोरी आ सकती है; इस लिये ब्राह्मण-क्षत्रियोंको उचित है कि, वे कभी आपसमें द्वेष न बढने दें । ब्राह्मण और क्षत्रिय राष्ट्रमें ऐसी शिक्षाका प्रचार करें, कि जिससे प्रत्येक व्यक्तिका तेज, उत्साह, ज्ञान और बल उन्नतिको प्राप्त हो । इस शिक्षा प्रचारके लिये हरएक को स्वार्थत्याग करना चाहिए ।

राष्ट्रमें ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी अवस्था अच्छी उन्नत न होगी, तो वैसे अवनत राष्ट्रमें परमेश्वरकी उपासना यथोचित नहीं हो सकती । इस लिये इस अंतिम मंत्रमें कहा है कि, राष्ट्रमें इनकी उन्नति विशेष प्रकारकी होनी चाहिए। समाज और राष्ट्रकी उन्नति होनेपर प्रत्येक व्यक्तिभी धार्मिक हो सकती है। व्यक्तिकी उन्नतिके लिये समाजकी उन्नति सहायक और राष्ट्रीय अवनति विघातक होती है । इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करना चाहिए ।

ॐ शांतिः । शांतिः । शांतिः ॥

यजुर्वेद अध्याय ३२ के मंत्रोंके अन्य ग्रंथोंमें स्थान

मंत्र १—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वा०—यजु. वा. सं. ३२।१॥; तैत्तिरीय आरण्य. १०।१।२॥; महानारायण उप. १।७॥

मंत्र २—सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः—यजु. वा. सं. ३२।२॥; तैत्ति. आ. १०।१।२॥; महा. ना. उ. १।८ ॥

मंत्र ३—न तस्य प्रतिमा अस्ति०—यजु. वा. सं ३२।३॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०—ऋग्वेद.१०।१२१।१॥; अथर्व. ४।२।७॥; यजु. वा. सं १३।४॥, २३।१॥, २५।१०॥; काण्व यजु. सं.२९।३३॥; तैत्तिरीय. सं.४।१।८।३॥, ४।२।८।२॥,५।५।१।२॥; मैत्रायणी सं. २।७।१४॥,२।९६।१३॥,२।१३।२३॥,२।१६८।५॥, ३।१२।१६॥, ३।१६५।१॥; काठक सं. १६।१५॥, २०।५॥, ४०।१॥; काठ. सं. अश्वमेध. ५।११॥, पंचविंश. ब्रा. ९।९।१२॥; शत० ब्रा० ७।४।१।१९॥, १३।५।२।२३॥, आश्व. श्रौ. सू. २।१७।१५॥, ३।८।१॥;आप. श्रौ. सू. १४।२९।१॥, १६।७।८॥, १६।२१।४॥, १६।२२।३॥, १७।७।१॥, २०।२।२॥, २०।१९।१२॥; निरुक्त १०।२३॥ प्रतीक–हिरण्यगर्भः ॥ यजु. वा. सं. ३२।३॥, तै. सं. २।२।१२।१॥; मैत्रा. सं. ४।१२।१॥, ४।१७७।१३॥; काठ. सं. ४।१६॥, ८।१७, १०।१३॥, २२।१४॥, ३५।१३॥; तैत्ति. आ० १।१३।३॥, १०।१।३॥; महा. ना. उ. १।१२॥; शांखायन श्रौ. सू. ३।१४।७॥, ९।२३।९॥, ९।२७।२॥; १३।१२।११॥; वैतान सू. २८।३४॥; कात्यायन श्रौ० सू. १६।१।३५॥, १७।४।३॥, २०।५।२॥,२५।११।३४॥;मानव श्रौ. सू. ३।५।१८॥, ३।६।१९॥, ५।१।९।११॥, ६।१।३॥, ६।१।७॥, ६।२।३॥, ६।८।१९॥, ९।२।१॥, ९।२।३॥, ११।३॥, ११।७।१॥;

पारस्कार गृ. १।१४।३॥; मान. गृ. १।१०।१०॥; विष्णुस्मृ. ६५।१३॥, बृ. हारीतस्मृ. ५।१२८॥, ५।२९५॥, ६।४७॥; बृ. पराशरस्मृ. ९।३२४॥.

मा मा हिंसीज्जनिता यः—यजु. वा. सं. १२।१०२॥; काण्व सं. २९।३६॥; शत. ब्रा. ७।३।१।२०॥; प्रतीक-मा मा हिंसीत् । यजु. वा. सं. ३२।३॥; कात्याय. श्रौ. १७।३।११॥;

यस्मान्न जातः परो अन्यो०—यजु. वा. सं. ८।३६॥, ३२।३॥; तैत्ति. ब्रा. ३।७।९।५॥; आप. श्रौ. १४।२।१३॥; महा. ना. उ. ९।४॥; नृसिंहपूर्वतापनी उप. २।४॥; कात्या. श्रौ. १२।५।२०॥

मंत्र ४—एषो ह देवः प्रदिशोऽनु०—यजु. वा. सं. ३२।४॥; श्वेताश्व. उ. २।१६॥.

मंत्र ५—यस्माज्जातं न पुरा किं च०—यजु. वा. सं ३२।५॥; तै. आ. १०।१०।२॥.

प्रजापतिः प्रजया संरराणः—अथर्व. २।३४।४॥; यजु. वा. सं. ८।३६, ३२।५॥; मै. सं. १।२।१५॥, १।२५।६॥ जैमिनी ब्रा. १।२०५॥; शां. श्रौ. ९।५।१॥; मानव श्रौ. १।८।३।३॥.

मंत्र ६—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च—ऋ. १०।१२१।५॥; यजु. वा. सं. ३२।६॥; काण्व सं. २९।३३॥; तै. सं. ४।१।८।५॥; मैत्रा. सं. २।१३।२३॥, २।१६८।१४॥; काठक सं, ४०।१॥; मान. गृ. १।११।१४॥.

मंत्र ७—यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने—ऋ. १०।१२१।६॥; य. वा. सं. ३२।७॥; काण्व. सं. २९।३४॥; तै. सं. ४।१।८।५॥.

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्—ऋ. १०।१२१।७॥; य. वा. सं. २७। २५॥, ३२।७॥; काण्व सं. २९।३४॥; तै. सं. ४।१।८।५॥; मै. सं. २।१३।२३॥, २।१६९।२॥; काठ. सं, ४०।१॥; तै. आ १।२३।८॥ तै. सं. २।२।१२।१॥.

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यत्—ऋ. १०।१२१।८॥; य. वा. सं. २७।२६॥; तै. सं. ४।१।८।६॥; प्रतीक—यश्चिदापः ॥ य. वा. सं. ३२।७॥.

मंत्र ८—वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा—अथर्व. २।१।१॥; यजु. वा. सं. ३२।८॥; तै. आ. १०।१।३॥; महाना. उ. २।३॥; शां. श्रौ. १५।३।८॥ कौशि. सू. ३७।३॥.

मंत्र ९—प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान्—अथर्व. २।१।२॥; यजु. वा. सं. ३२।९॥; तै. आ. १०।१।३॥; म. नारा. उ. २।४॥.

मंत्र १०—स नो बंधुर्जनिता स विधाता—य. वा. सं. ३२।१०॥; तै. आ. १०।१।४॥; म. नारा. उ. २।५॥.

मंत्र ११—परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्—यजु. वा. सं. ३२।११॥; तै. आ. १०।१।४॥; म. ना. उ. २।७॥

मंत्र १२—परिद्यावापृथिवी सद्य इत्वा—अथर्व. २।१।४॥; य. वा. सं. ३२।१२॥.

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य—अथर्व. २।१।५॥; य. वा. सं. ३२।१२॥ तै. आ. १०।१।४॥; म. ना. उ. २।६॥.

मंत्र १३—सदसस्पतिमद्भुतं प्रिय—ऋ. १।१८।६॥; ऋ. खि. १०। १५।१।७॥; साम वे. १।१७१॥; यजु. वा. सं. ३२।१३; तै. आ. १०।१।४॥; म. नारा. उ. २।८॥; शांखा. श्रौ. ६।१३।३॥ आश्व. गृ. १।२२।१३; शांखा. गृ. २।८।१॥; गोभि. गृ. २।७।२१॥, ३।२।४८॥, आप. मं. पा. १।९।८॥; आप. गृ. ३।८।२॥; हिरण्य. गृ. १।८।१६॥; साम वि. ब्रा. २।७।६॥; प्रतीक–सदसस्पतिं ॥ पारस्कर गृ. २।१०।११॥; खादिर गृ. २।५।३४॥; ऋग्विधान. १।१७।२॥.

मंत्र १४—यां मेधां देवगणाः पितरः—ऋ. खिल १०।१५१।८॥; य. वा. सं. ३२।१४॥.

मंत्र १५—मेधां मे वरुणो ददातु—ऋ. खिल. १०।१५१।२॥; य. वा. सं. ३२।१५॥.

मंत्र १६—इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे—य. वा. सं. ३२।१६॥.

इस पुस्तक में आये हुए, स्मरण करने योग्य वैदिक सुभाषित।

—प्रस्तावना—

१ इन्द्रश्च सम्राट्। ....परमेश्वर सम्राट् है।

२ इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।.................. परमेश्वर स्थावर जंगमका राजा है।

३ इन्द्रः सत्ययोनिः।............परमेश्वर सत्यका प्रवर्तक है।

४ इन्द्रः सत्यः सम्राट्। ......परमेश्वर सच्चा महाराजा है।

—मूल मंत्र—

५ न तस्य प्रतिमा अस्ति।... उसकी कोई प्रतिमा–उपमा–नहीं। (मं. ३)

६ एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः।................... यह परमेश्वर सब दिशाओं में भरा है। (मं. ४)

७ प्रजापतिः प्रजया संरराणः। .... प्रजापालक प्रजाके साथ मिलकर रहता है। (मं. ५)

८ वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सत्।..................... बुद्धिमें रहनेवाले उस सत्य ब्रह्मको ज्ञानी देखता है। (मं. ८)

९ यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।...सब विश्व वहां एक आश्रयसे रहा है।

१० तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।................. उसीमें यह सब बनता और बिघडता है।

११ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।................ वह सब प्रजाओंमें ओया और प्रोया है।

१२ यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ।......................	जो उसको जानता है वह पालकोंका पालक होता है । (मं. ९)
१३ स नो बन्धुः ।................	वह हमारा भाई है । (मं. १०)
१४ स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।.........	वह जगदुत्पादक ईश्वर सब जगत् और सब स्थानोंको जानता है ।
१५ आत्मनाऽऽत्मानमभि सं विवेश ।......................	आत्मस्वरूपसे परमात्मामें घुसता है । (मं. ११)
१६ ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् ।	सत्यके फैलेहुए अटल सूत्रका अलग अनुभव करनेके पश्चात् उसको देखता है । (मं. १२)
१७ तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ।...........	हे तेजस्वी ईश्वर ! उस मेधा बुद्धिसे मुझे आज बुद्धिमान् करो । (मं.१४)
१८ ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।...............	ज्ञान और शौर्य इन दोनोंकी शोभा बढे । (मं. १६)
१९ मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमाम् ।......................	सब विद्वान् मेरे अंदर उत्तम तेज बढावें ।

—स्पष्टीकरण—

२० एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।....................	एकहि ब्रह्मको ज्ञानी अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं । (स्प. मं. १)
२१ स एष एक, एक वृदेक एव ।	वह एक है । केवल एक है । निश्चयसे एक है ।
२२ सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति ।..................	सब अन्य देव इस एकमें एकरूप होते हैं ।
२३ यस्य छायाऽमृतम्........	जिसका आश्रय अमरपन है । (मं. ३)

२४ यस्मान्न ऋते विजयन्तो जनासः।..................	जिसके विना मनुष्य विजय नहीं पा सकते।
२५ नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति	न इसका कोई शत्रु है, और न इसकी कोई प्रतिमा है।
२६ एको ह देवो मनसि प्रविष्टः।	एकहि देव मनमें प्रविष्ट हुआ है। (मं. ४)
२७ य एक इद्धव्यश्चर्षणीनाम्।	वह एक हि सब मनुष्योंको पूजने योग्य है।
२८ यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्।	जिससे अधिक श्रेष्ठ कोई बना नहीं है। (मं. ५)
२९ अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना।................	उसका अज्ञान नष्ट हुआ और वह पापसे छुट गया, (जिसनें ईश्वरकी उपासना की)।
३० ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यम्।	सत्कर्म करनेवाले सदाचारी लोकोंके बीचमें जाओ।
३१ प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्।	तू प्रभू है, इस लिये तेरी हम सब पूजा करते हैं।
३२ देवानां समवर्तताऽसुरेकः।	सब देवोंका प्राणरूप ईश्वर एक हि है। (मं. ६)
३३ यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।..................	जो सब देवोंमें एक अधिराज है।
३४ अतो धर्माणि धारयन्।...	वह शाश्वत सत्य नियमोंका धारण करता है। (मं. ८।९)
३५ इन्द्रस्य युज्यः सखा।........	जीवात्माका योग्य मित्र वहहि है।
३६ सदा पश्यंति सूरयः।........	ज्ञानी हि सदा सत्य देखते हैं।
३७ जागृवांसः समिन्धते।...	जागनेवाले हि एक होकर प्रकाश करते हैं।

मन्त्रभाग	अर्थ
३८ तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।	उसीसे सब चारों दिशाओं–में रहने-वाले सब–जीते रहते हैं ।
३९ असश्चतः शतधारा अभि-श्रियः ।	सतत प्रयत्न करनेवालेको सैंकडों प्रवाहोंसे यश प्राप्त होता है। (मं.१०)
४० क्षिपो मृजन्ति ।...........	पुरुषार्थी लोक पवित्र होते हैं। और पवित्र करते हैं ।
४१ तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।.................	हे विद्वानो ! पत्नी, पुत्र, भाई और धन आदिसे उसी ईश्वरकी हम सब सेवा करेंगे ।
४२ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।	परमात्मदेव आप सबको उच्चतम कर्ममें लगावे ।
४३ अनृणा स्याम ।...............	हम सब कर्जासे मुक्त हों ।
४४ सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ।...................	ऋणसे मुक्त होकर प्रगतिके मार्गोंसे हम सब चलेंगे ।
४५ यो देवानां नाम–धा एक एव ।.....................	वह अन्य देवोंके नाम धारण करने-वाला एकहि देव है ।
४६ कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।.................	कवीकी विचारशक्तिसे सूत्रात्मा को अलग देखते हैं । (मं. ११।१२)
४७ तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान ।	जगतमें परमात्मानें एक सूत्रको फैलाया है ।
४८ तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्	उस परमात्माके पकाए भात के सेवन करनेसे मृत्युसे पार होते हैं ।
४९ यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति।	जो तेरेमें न्यून है, उसको वह पूर्ण करता है ।
५० तदपश्यत् । तदभवत् । तदासीत् ।................	उसको देखनेके पश्चात् वैसा बनता है, कि जैसा था ।

मंत्र सूची

* यह चिन्ह जिनके सामने है वे वाक्य वेद मंत्र नही है। वे अन्य ग्रंथोंके वाक्य हैं।

विषयसूची।

मंत्रोंका अर्थ।

मंत्र पृष्ठ

मंत्रोंका स्पष्टीकरण।

ॐ

स्वाध्याय-मंडल

आचार्यकी आज्ञा।

"वेद का पढना पढाना, सुनना सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है।"

(१) **नाम**—इस संस्थाका नाम '**स्वाध्याय-मंडल**' है।

(२) **उद्देश**—आचार्यकी आज्ञाके अनुसार वेदका स्वाध्याय करना और कराना, इस स्वाध्याय-मंडलका उद्देश है।

(३) **कार्यक्षेत्र**—(१) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार संहिताओंका स्वाध्याय करना और कराना। (२) वैदिक उपदेशोंके साथ अन्य धर्म ग्रंथोंकी तुलना करके, वेदानुकूल और वेद-विरुद्ध मतोंका सप्रमाण निश्चय करना। (३) प्रचलित नवीन युरोपीयन मतकी सप्रमाण समालोचना करनी।

(४) **स्वाध्याय और वैदिक-धर्मका प्रचार**—स्वाध्याय करके जो मत निश्चित होगा, उसको पुस्तकरूपमें प्रसिद्ध करना। वैदिक-धर्मका स्थिर और सच्चा प्रचार "वैदिक-धर्मके सुबोध-ग्रंथ" प्रसिद्ध करनेसेहि होना है।

(५) **स्वाध्याय-ग्रंथ-माला**—स्वाध्यायके पुस्तक लिखनेका कार्य स्वाध्याय-मंडलका है। पुस्तक-प्रकाशन का कार्य करनेके लिये दूसरी संस्था स्थापन करनेकी इच्छा है। इस दूसरी संस्थाका जन्म होनेतक स्वा० मं० हि पुस्तक प्रसिद्ध करेगा। जहांतक संभव होगा, वहांतक प्रयत्न करके, अच्छी छपाईके साथ अत्यंत थोडे मूल्यसे पुस्तक बेचनेका यत्न किया जायगा।

(६) **स्वाध्याय-मंडलका व्यय**—पुस्तक प्रकाशनमें लाभकी आशा न रखनेके कारण, स्वाध्याय-मंडलके व्यय आदिके लिये, उदारचित्त '**दानी महाशयोंकी उदारता**' पर हि विश्वास रखा है। आशा है कि धनिक लोक द्रव्यकी सहायता करेंगे और दूसरे लोक सहायता करवायेंगे।

स्वाध्याय-मंडलके सभासद।

(७) **सभासद**—जो मनुष्य वेदका स्वाध्याय करना चाहते हैं, वे इस

स्वा० मं० के सभासद हो सकते है । **'स्वाध्यायका निश्चय'** हि इसका चंदा है ।

(८) **सहायक**—जो **'द्रव्यकी सहायता'** द्वारा स्वा० मंडलका पोषण कर सकते हैं, वे यथाशक्ति स्वयं सहायता करें, और दूसरोंसे करावें ।

(९) **स्थिर ग्राहक**—जो कमसे कम ५ अथवा अधिक रु. मंडलके पास जमा करेंगे वे स्थिर ग्राहक हो सकते है । रुपयोंकी समाप्तितक, विना डाकव्यय, उनके पास स्वा० मं० के पुस्तक पहुंचते रहेंगे ।

(१०) **स्थिर सहायक**—जो २५, ५० अथवा १०० रु. स्वा० मं० के पास अनामत रखेंगे, उनको प्रतिवर्ष क्रमशः २, ४॥ और १० रु. के (डाकव्ययादिसहित) पुस्तक भेट किये जायगे । तथा दो वर्षके पश्चात् जिस समय चाहे अपना धन वे वापस ले सकते है । जबतक उनका धन मंडलके पास रहेगा, तबतकहि उनको पुस्तक मिलते रहेंगे ।

(११) स्वा० मं० के सभासदोंको उचित है कि, (१) वे स्वा० मं० के पुस्तक स्वयं पठण करें, (२) स्वा० मं० के पुस्तकोंका प्रचार करें और (३) अधिक सभासद बनानेकेलिये यत्न करें ।

स्वाध्याय-मंडलका वार्षिक-वृत्त ।

(१२) स्वा० मं० का वार्षिक वृत्त प्रतिवर्ष प्रसिद्ध होगा, जिसमे प्रतिवर्षका स्वा० मं० का कार्य, सभासदोंके नाम, दानी महाशयोंकी सहायता आदिका वृत्तांत होगा ।

सहायता का स्वीकार-पत्र ।

(१३) प्रत्येक दान-प्राप्तिका स्वीकार-पत्र दानी महाशयके पास स्वा० मं० की ओर से चले जायगा । तथा वार्षिक वृत्तमें भी उसका उल्लेख रहेगा ।

उक्त नियमोंमें परिवर्तन करनेका अधिकार स्थानिक कार्यकारी मंडलको होगा । परंतु मंडलकी उन्नति के लिये सब सभासद अपनीं सूचनाएं मंडलके पास भेज सकते हैं, जिनका निःपक्षपातसे विचार करके योग्य सूचनाका अवश्य स्वीकार किया जायगा ।

औंध (जि. सातारा)
(पूना मार्ग)
१ । १ । १९

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मंडल.

निर्णयसागर छापखाना—मुंबई.

ध्यान दीजिए।
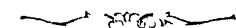
इस भारतवर्षके अंदर

'**अन्यधर्म**' का प्रचार करने के लिये—

(१) पांचसौ छापाखाने,

(२) दोसौ मासिक पत्र, तथा—

(३) दो हजारसे अधिक अन्यधर्मीय उपदेशक कार्य कर रहे हैं, और '**अन्यधर्म**' का प्रचार करनेके लिये करोडों रु० का व्यय विदेशी दानी पुरुषोंके दानसे हो रहा है। परंतु

" वैदिक धर्म "

के अभिमानी आपसमें लढ रहे हैं। क्या ऐसी हि अवस्था रहेगी, तो '**वैदिक धर्मका प्रचार**' हो सकता है ?

यहां केवल शब्दोंसे काम नहीं होगा।

उठीये ! और जो सहायता दी जा सकती है शीघ्र दीजिए।

स्वाध्याय मंडळ,

औंध (सातारा).

परमेश्वर पर विश्वास

रख कर

'**स्वाध्याय**' करने और करानेका कार्य प्रारंभ किया है। इसमें निम्न बातोंके लिये सहायता चाहिए:—

(१) इस देशमें तथा यूरोपमें छपेहुए वेदविषयक ग्रंथोंका संग्रह करने के लिये,

(२) स्वाध्याय के पुस्तक मुद्रित करने के लिये, तथा—

(३) स्वाध्याय मंडळ का निज व्यय चलाने के लिये, धन चाहिए। क्या आप '**स्वाध्याय**' के कार्यके लिये यथाशक्ति दान करेंगे? समय जा रहा है।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय मंडळ, औंध (सातारा).

(१६) **उत्तम ज्ञान** । मूल्य एक आना । ⁄

[म. राजपाल, सरस्वती आश्रम, लाहोर द्वारा मुद्रित]

(१७) **अथर्व-वेदका स्वाध्याय** । मू. सवा रुपया १।

(१८) **संस्कृत स्वयं शिक्षक** । प्रथमभाग । मू. सवा रु. १।

(१९) " द्वितीयभाग " "

(२०) " तृतीयभाग " "

मराठी पुस्तकें ।

[म. दामोदर सांवळाराम यंदे, इंदुप्रकाश, मुंबई, द्वारा प्रकाशित]

(२१) **स्पर्शास्पर्श** अथवा चारहि वर्णांचा परस्पर व्यवहार । मू. १ रु. ।

(इसीका गुजराथी भाषामे अनुवाद भी हो चुका है)

[म. शामराव कृष्ण आणि मंडळी, ठाकुरद्वार मुंबई, द्वारा प्रका.]

(२२) **वैदिक-धर्म-स्वरूप** । [ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका] मू. १। रु. ।

(२३) **सत्यार्थ प्रकाश**, पूर्वार्ध । मू. १ रु. ।

(२४) " उत्तरार्ध । मू. बारा आना ।॥।

(२५) **ब्रह्मचर्य** । मू. चार आना ।।

(२६) **गृहस्थाश्रम** । मू. सात आना ।≡

(२७) **राष्ट्री-सूक्त** । मू. देड आना ⁄॥

(२८) **उपनयन-संस्कार** । मू. पौण आना ⁄॥।

(२९) **विवाह-संस्कार** । मू. " ⁄॥।

(३०) **योग-तत्वादर्श** । मू. दस आना ।॥=

(३०) **ईश-प्रार्थना** । मू. दो आना ⁄=

(३१) **ईश्वर-स्वरूप** । मू. आधा आना ⁄॥

(३२) **उन्नतीचीं तत्वें** । मू. दो आना ⁄=

[म. आ. रामचंद्र सामंत, बेळगांव, द्वारा प्रकाशित]

(३३) **पुरुषसूक्त व विष्णुसूक्त** । मू. छे आना ।=

[ये पुस्तक सब पुस्तक बेचनेवालोंके पास मिलते हैं]

जो पुस्तक जहांसे प्रकाशित हुए है वहांहीसे मंगवाईए । केवल स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित पुस्तक मेरे पास मिलेंगे ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मंडल, औंध (जि. सातारा).

वैदिक धर्मके अभिमानियोंसे

प्रार्थना।

"वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है।"

केवल इसी नियमकी पूर्णता करनेके लिये

स्वाध्याय-मंडल

की स्थापना हुई है।

जो लोक वेदोंका स्वाध्याय करना चाहते हैं वे, विना चंदा, स्वाध्याय मंडलके सभासद हो सकते हैं। स्वा० मंडलका सभासद होनेसे स्वाध्याय करनेके लिये निःसंदेह सहायता होगी। वैदिक धर्मके जिज्ञासुओंको उचित है कि, वे शीघ्रहि अपना नाम और पता निम्न पतेपर भेजदें।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय-मंडल
औंध (सातारा)